जाने-अनजाने

—संस्मरण और रेखाचित्र—

विष्णु प्रभाकर



मूल्य : तीन रुपये

दूसरी बार, १९६१

JANE ANJANE

by

Vishnu Prabhakar

Price : Rs. 3.00

प्रकाशक—विश्वविद्यालय प्रकाशन, नखास चौक, गोरखपुर

मुद्रक—ओम्प्रकाश कपूर, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी ५९१४–१८



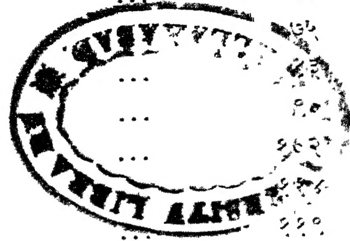
माँ !

धृष्टता सन्तानकी

बस सह सकती तुम हीं

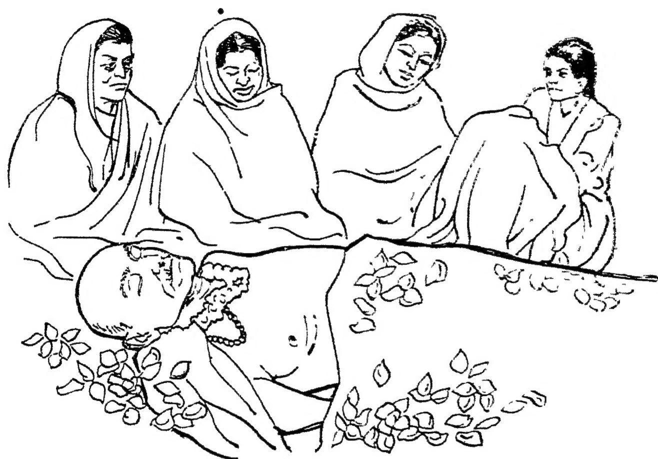
सहो इसे भी

विषय-क्रम



: १ :

तीस जनवरीकी वह सन्ध्या



वह और दिनोंकी भाँति एक साधारण दिन था। सदाकी तरह शिशिरकी संध्या, धीरे-धीरे काँपती, सिहरती, विश्वकी लीलाभूमिमें प्रवेश कर रही थी और कान्त लिखनेमें तन्मय था। जैसा कि सदा होता था उसका भाई दफ्तरसे लौट आया और उसने रेडियो चला दिया। कान्तने दृष्टि उठाकर एक बार रेडियोकी ओर देखा और फिर लिखने लगा। लेख समाप्त होने वाला था। वह नहीं जानता था कि रेडियो क्या बोल रहा है। तभी एक अभ्यागत मित्रने आकर कहा, 'मैं जा रहा हूँ।'

कान्तने लेखका अन्तिम वाक्य लिख लिया था। वह मुसकराया, 'आज नहीं जा सकेंगे। गाड़ी नहीं मिलेगी।'

और उसने घड़ीकी ओर देखा, छः बजनेवाले थे।

मित्रने कहा, 'मुझे जाने दीजिए। रुकनेसे मेरी हानि होगी। मैं किसी तरह गाड़ी पकड़ लूँगा।'

'नहीं', कान्त बोला।

तभी सहसा उन्होंने काँपकर रेडियोकी ओर देखा। वहाँसे एक स्वर उठ रहा था '''हिट इन दी चेस्ट एण्ड कौलैप्स्ड'''

कि उसका भाई करुण स्वरमें बोल उठा, 'यह क्या हुआ ?'

'क्या''क्या हुआ', उसने कलम फेंक दी। कापी दूर जा पड़ी। वह हड़बड़ाकर उठा, 'क्या''क्या हुआ ?'

'गाँधीजी''', भाईका स्वर रुँध गया। रेडियोसे वेदनाका स्वर गूँज रहा था। पागलोंकी तरह उसकी माँ और दूसरे लोग कमरेमें दौड़ते हुए आये, 'क्या''क्या हुआ गाँधीजीको''' कि रेडियो फिर बोला, 'हमें बड़े खेदके साथ सूचित करना पड़ता है कि पाँच बजेके कुछ पश्चात् गाँधीजीका स्वर्गवास हो गया। वह सदाकी तरह प्रार्थना सभामें जा रहे थे कि एक व्यक्तिने तीन या चार बार उनपर पिस्तौलसे गोली चलाई। गोली छातीमें लगी और वह बेहोश हो गये। ईश्वरकी इच्छा !'

जैसे शेषनागने पृथ्वीको पटक दिया, जैसे सागर मर्यादाको छोड़कर उमड़ पड़े, जैसे विश्वके समस्त ज्वालामुखी एक साथ भभक उठे, जैसे उनचास पवन एक साथ इन्द्रके बन्धनसे मुक्त हो गये''किसीको कुछ नहीं सूझा। मस्तिष्ककी गति कालगतिसे तीव्र हो उठी। अर्द्ध-विक्षिप्त सबने एक-दूसरेको देखा। देखते रह गये—यह क्या हुआ ! गाँधीजी मर गये—नहीं, नहीं''पर रेडियो कहता है कि उनपर गोली चलाई गई''उनकी हत्या की गयी''गाँधीजीकी हत्या''असम्भव''नितान्त असम्भव''पर रेडियो फिर कह रहा था''!

मित्र पागलोंकी तरह बाहर भागते चले गये। एक छोटी बच्ची सकपकाकर दीवारसे चिपक गई। रसोईमें पुकार मची, 'बन्द कर दो!'

'गाँधीजी···गाँधीजी···!'

कमरेमें भीड़ बढ़ने लगी। सब विमूढ़-से रेडियोकी ओर देख रहे थे और वह रो रहा था। पर वे अभी रोनेके लिए तैयार नहीं थे। सहसा कान्तने उत्तेजित होकर कहा, 'अब प्रलय होगी।'

'पर उन्हें किसने मारा', एक रुदनसे पूर्ण स्वर उठा।

किसीने कुछ जवाब नहीं दिया। रेडियो फिर उसी समाचारको दोहरा रहा था। सहसा फिर किसीने कहा, 'उन्हें मारनेवाला मुसलमान तो नहीं है।'

कान्तने उस व्यक्तिको देखा, फिर दृढ़तासे उत्तर दिया, 'यह असम्भव है।'

'तो वह पंजाबी है, वह अवश्य पंजाबी है।'

'पर उसने गाँधीजीको मारा क्यों! क्यों···क्यों···क्यों···आखिर!'

'शायद यह गलत है। उन्हें कोई नहीं मार सकता। कोई नहीं··· लेकिन रेडियो—वह अंग्रेजीमें बोलता है···हिन्दीमें बोलता है···ईश्वरकी इच्छा···ईश्वरकी इच्छा···ईश्वर! ईश्वर क्या तुम हो? क्या यह सब तुम्हारी इच्छा है···!

बाहरसे एक और भाई आये और धम्मसे कुरसीपर बैठकर उन्होंने एक साँसमें कहा, 'गाँधीजीको मारनेवाला कोई हिन्दू था।'

'हिन्दू', जैसे समूचा विश्व घृणासे फुसफुसा उठा। 'हाँ हिन्दू और मराठा,' उन बन्धुने यन्त्रकी तरह कहा और मौन हो गये। उनका कण्ठ रुँध गया। उन्होंने अपना सिर कुरसीकी पीठपर डाल दिया। वह रो रहे थे···!

तभी एक और भाई आये और हाँफते-हाँफते बोले, 'उसका नाम नाथूराम है!'

'नाथूराम···!'

'तो वह झगड़ा नहीं है ।'

नवागन्तुक पंजाबी थे। करुण स्वरमें उन्होंने कहा, 'अब क्या होगा !'

'अब कत्लेआम होगा,' किसीने क्रुद्ध होकर उत्तर दिया, 'रात-रातमें पंजाबियोंका बीज मिटा दिया जायगा ।'

'हाय !' कान्तका हृदय रो उठा, 'शान्तिके देवताका यह अन्त !'

तबतक सब रोने लगे थे। उस रुदनमें स्वर नहीं था, इसलिए पीड़ा थी और वह पीड़ा बढ़ईके बरमेकी तरह आत्माको छील रही थी कि माँ भर्राये स्वरमें फुसफुसाई, 'हाय ! किसीने यह क्या किया !' कि एक बच्चेने पूछा, 'महात्माजीको क्या हुआ !'

कि कान्तके मनमें एक विचार उठा मानो रेडियो कह रहा है, 'अब आप एक शुभ समाचार सुनिए, डाक्टर गाँधीजीकी बेहोशी दूर करनेमें समर्थ हुए हैं। उनके प्राण लौट रहे हैं !'

उनके प्राण लौट रहे हैं···बोल, रेडियो बोल !···भगवान् तुम ही इसमेंसे बोल उठो—गाँधी जी रहा है, गाँधी अमर है—कि रेडियो बोला···कान्तने नेत्र मूँद लिये, आँसू धरतीपर टपकने लगे। भाईने उठकर सुई बड़ौदाकी ओर घुमा दी थी। वह आर्त स्वरमें पुकार रहा था—बापूजी, गाँधीजी, बापूजी, महात्मा, बापूजी···बापूजी अब नहीं रहे। प्रार्थनामें जाते समय···!

वही कहानी, वही स्वर, वही आकाश, वही धरती, वही संध्या, वही जगत्, पर बापू कहाँ है···!

बापू कहाँ हैं ?—कान्त सुबक उठा। उसने अपना सिर पलंगके तकियेपर टिका दिया। स्वर लाहौर जा पहुँचा। वहाँ शोकका गहरा गान न जाने किस भाषामें रुदन कर रहा था पर वह स्वर—वह दिलके टुकड़े-टुकड़े किये दे रहा था···

ढाका !

वही एक भीगा स्वर ! वही एक मर्मस्पर्शी रुदन ।

पटना !

गायक बापूके गीत गाता है और रोता है।

बड़ौदा !

अरे बापू बोल रहे हैं···!

अरे बापू बोल रहे हैं ! कमरेमें एक मर्मर ध्वनि उठी। सबने एक-दूसरेको देखा, दृष्टि मिली और झुक गई। रिकार्ड बज रहा था—गाँधी अमर पट्टा लिखवाकर थोड़े ही आया है। वह भी मरेगा, एक दिन सब मरेंगे···!

हाय, उनके मुखसे अब यह स्वर फिर नहीं निकलेगा !

क्यों नहीं निकलेगा ? बापूकी प्रार्थना होगी। हम सदाकी तरह उनकी प्रार्थनामें चलेंगे। छोटा बच्चा उन्हें देखकर कहेगा—बापूकी जय ! और कल ही तो मैं उनकी प्रार्थनामें गया था। वह कितने सुन्दर, प्रिय और स्वस्थ लगते थे। लोग ठीक कहते हैं कि बुड्ढा आयु बढ़ानेके लिए व्रत रखता है। उपवाससे ग्रन्थियोंको नष्ट करनेवाले तत्त्वका क्षय होता है न ? वह कह रहे थे, 'मैं तो इस अशान्तिमेंसे शान्ति खोजना चाहता हूँ। नहीं इसी अशान्तिमें मिट जाना चाहता हूँ···।' और वह मिट गये !

कान्त चौंका। उसने जोरसे गरदनको झटका दिया। एक बार कमरेमें दृष्टि डाली। उसे पता लगा—बापू अब नहीं है। उन्हें आज पाँच बजे जब वह प्रार्थना-सभामें जा रहे थे किसी हिन्दू युवकने पिस्तौलसे गोली चलाकर मार डाला···बापूको मार डाला—कान्त फिर सिहर उठा—असम्भव। सर्वथा असम्भव। बापूको कोई कैसे मार सकता है ? कैसे भला ! उनका वक्षःस्थल सदा खुला रहता है। खुले वक्षःस्थलपर कोई चोट नहीं कर सकता।

कि वह चौंका। पंजाबी बन्धु भागे-भागे आये और बोले, 'वह मराठा है। उसका नाम नाथूराम विनायक गोडसे है। वह पूनाका रहनेवाला है।'

'पंजाबी बच गये !'

पंजाबी बन्धुने साँस खींची, 'पंजाबी इतना नीच नहीं है।'

'नीच, कमीने, घृणित', एक और बन्धु अन्दर आ रहे थे। उनकी आँखें लाल हो रही थीं। वह काँप रहे थे। उन्होंने कहा, 'वे पापी हैं।'

'कौन ?'

'वे जो मिठाई खा रहे हैं।'

जैसे वज्र टूटा 'क्या…?'

'चौकमें दो व्यक्ति रसगुल्ले खा रहे हैं।'

'हाय ! ऐसे आदमी भी हैं !'

किसीने काँपते हुए करुण स्वरमें कहा, 'पर उन्हें मारा ही क्यों ? वह तो किसीका बुरा नहीं चाहते थे।'

'इसीलिए तो मारा !'

'इसीलिए', पूछने वालेने अचरजसे कहा और चुप हो गया। वे सब इसी तरह बीच-बीचमें बोल उठते थे और फिर चुप होकर रेडियोकी ओर देखने लगते थे। वे शोक-विह्वल थे। उनकी वाणी उनके विचारोंको वहन करनेमें असमर्थ थी। परन्तु उनकी आँखें, उनकी मुद्रा, उनका दिल, वे फूट-फूटकर विलाप कर रहे थे। उनकी समझमें नहीं आ रहा था—गाँधीजीको क्यों मारा गया ? क्यों आखिर…? लेकिन युग-युगसे क्या मानवने यही प्रश्न नहीं पूछा है—कृष्णको अज्ञात नाम शिकारीने क्यों मारा था ? क्यों तत्त्वज्ञानी सुकरातको विषका प्याला पिलाया गया ? क्यों ईसाको सूलीपर चढ़ना पड़ा ? क्यों लिंकनको गोलीसे उड़ा दिया था ? क्यों ऐसे ही और अनेक महापुरुषोंकी हत्या की गई ? क्यों…क्योंकि वे किसीका बुरा नहीं चाहते थे…!

वह कैसा अन्त ? यह कैसी कृतघ्नता ? यह कैसा विधान ? क्या है यह संसार-जाल ? क्या है यह नियति-चक्र ? क्या है स्वयं नियति ? क्या जगत्ने अपने आरम्भसे आजतक तनिक भी प्रगति नहीं की ? प्रगति—वह

फुसफुसाया—धरती गोल है। सब कुछ गोल है। आदि और अन्त एक ही चरम बिन्दुके नाम हैं···।

तो सब शोक वृथा है। सब मोहजाल है! सब ढोंग है, ढोंग! एक बीभत्स ढोंग···

उसकी करुणा क्रुद्ध हो उठी। नयनोंका जल अंगारकी तरह दहकने लगा। उसे लगा—तूफानके प्रज्वलित शोलोंकी तरह यह सारा संसार भस्म हो उठेगा पर वह न काँपा, न सिहरा, बल्कि उसने दृढ़तासे कहा—जिस संसारमें गाँधीकी हत्या हो सकती है उसके अस्तित्वकी कोई आवश्यकता नहीं। उसे नष्ट होना ही चाहिए, होना ही चाहिए।···वह फिर उत्तेजित होने लगा लेकिन किसीने उसकी ओर ध्यान नहीं दिया। एक गहरा सन्नाटा कमरेमें भर उठा और लाहौर रेडियो स्टेशनसे एक गहन गम्भीर स्वर, जिसके कण-कणमें वेदनामय रुदन मूर्तिमान था, धीरे-धीरे चारों ओर फैलने लगा:—

ऐ कौम अब न छूटेगा दामनसे तेरे दाग,
गुल तूने अपने हाथसे अपना किया चिराग।
गाँधीको कत्ल करके वो तोड़ा है तूने फूल,
तरसेगा लहलहानेको अब एशियाका बाग।

कान्तका दिल चीत्कार कर उठा। उसने दोनों हाथोंसे मुह ढाँप लिया पर वह अकेला नहीं था। कमरेका प्रत्येक व्यक्ति रो रहा था और बच्चे ठगे-सकपकाये देख रहे थे—आखिर आज क्या है? शायद उसी प्रश्नके उत्तरमें कविने तड़पकर कहा—

गला घोंटा गया जिस सरजमीपर आदमीयतका
वो तरसेगा हमेशाके लिए अब नामे इन्सांको।

इन्सान—कान्तने आँसुओंको पीनेका भीष्म प्रयत्न किया। उसे कुछ याद आ गया। कहते हैं—ईसा एक ही था जिसे सूलीपर चढ़ा दिया गया। उसने कहा—मैं कहता हूँ कि इन्सान एक ही था और उसे गोली

तो मार दे। लिंकनको भी ऐसी ही चेतावनी दी गई थी। उसने उत्तर दिया था—शान्तिका युग आरम्भ हो गया है, मुझे कौन मारेगा ?

लेकिन बूथने उन्हें मार डाला।

नहीं; बूथने उन्हें अमर कर दिया।

पाइलेटने ईसाको अमरत्वकी वेदीपर आसीन किया।

विष पीकर सुकरात अमर हो गये।

इन्हीं महापुरुषोंकी वन्दनामें कवि टाकुरने गाया है:—

भगवान तुमने युग युग में
बार-बार अपने दूत भेजे,
इस दयाहीन संसार में—
वे कह गये सबको क्षमा करो,
कह गये सबको प्यार करो,
अन्तर के विद्वेष का विष निकाल दो।
वे वरण करने योग्य थे,
वे स्मरण करने योग्य थे,
परन्तु हमने इस दुर्दिन में भी
उन्हें घर के द्वार से ही
कोरा नमस्कार करके लौटा दिया।

हाय ! आज कवि ठाकुर होते तो अपने हृदयके रक्तमे लेखनी डुबोकर वे गीतकी अन्तिम पंक्तियाँ इस प्रकार लिखते।

परन्तु हमने इस दुर्दिनमें भी, अपने ही घरके द्वारपर उन्हें गोलीसे मारकर गिरा दिया।

मस्तिष्क तेजीसे भर्राया—गाँधीजीको गोली मार दी ! गाँधीजीको·· नहीं नहीं···यह मैं क्या सोच गया। गाँधीजीको भी कोई मार सकता है ? उनके हृदयमें तो भारत बसता है। सारी मानवता बसती है। क्या कोई मानवताको मार सकता है ?

तभी, देखा, मित्र लौट आये हैं और उनका चेहरा पीला पड गया है। 'क्या हुआ तुम्हें?' कान्तने उनसे पूछा।

'क्या बात है?' दूसरे बन्धु बोले।

मित्र एकटक देखते ही रह गये।

कान्त दुनियामें लौटने लगा। पूछा, 'आप बिरला-भवन गये थे।'

'हाँ…'

'तो गाँधीजी…'

'गाँधीजी उसी तरह शान्त निर्द्वन्द्व लेटे हैं। उनके मुखपर पूर्णतः दया और क्षमाके भाव हैं।'

भावनाने एक बार फिर सबको तड़पा दिया। आँसू बाँध तोड़कर बह चले। भर्राये गलेसे एक बन्धु बोले, 'वे योगी थे। उन्होंने उसी क्षण समाधि लगा ली होगी।'

'जी हाँ,' मित्र बोले, 'वे समाधिमें थे। गोली लगते ही उन्होंने "हे राम" कहा और प्राण त्याग दिये।'

माँ बोली, 'तनिक भी नहीं तड़पे! कैसी मौत पाई है!'

और फिर वे सब शान्त हो गये। पासके कमरेमें भी निस्तब्धता छा गई। रसोईघर उसी तरह अस्त-व्यस्त पड़ा रहा और वह लड़की उसी तरह दीवारसे चिपकी खड़ी रही। उसके बापने कहा, 'इसने खाना खानेसे इनकार कर दिया है।'

किसीने कुछ जवाब नहीं दिया। लाहौरसे कोई व्यथित स्वरमें गाँधीजीके गुण गा रहा था, 'वे संसारके श्रेष्ठ मानव थे। वे सत्य, अहिंसा और प्रेमके पुजारी थे…।'

तभी बहुत देरसे तन्मय तल्लीन एक बन्धु गम्भीरतासे बोले, 'मैं कहता हूँ, हम गाँधीजीके लिए शोक क्यों करें? वे सैनिक थे और सैनिक-की भाँति उन्होंने छातीपर गोली खाकर वीरगति प्राप्त की। उन्होंने अपने जीवनमें अपने स्वप्नोंको फलते देखा। उन्होंने कोटि-कोटि मानव समुदाय-को एक राष्ट्रमें गूँथा। वे अछूतोंके त्राता थे और स्त्रियोंके मार्ग-प्रदर्शक।

वे किसानोंके मित्र थे और मजदूरोंके बन्धु। वे गृहस्थियोंके सलाहकार थे और संन्यासियोंके आदर्श। वे सबसे बड़े साम्यवादी थे; वे धर्मकी मूर्ति थे। वे साहित्यको जीते थे, सत्य उनकी धमनियोंका रक्त था और अहिंसा उनका प्राण। उनकी क्रान्ति शान्त थी, उनका विद्रोह मधुर था। उन्होंने राजनीतिके दूषित वातावरणमें मानवताकी प्राण-प्रतिष्ठा की थी। उनके अन्तरमें विरोधी तत्त्वोंका अद्भुत सम्मिश्रण था। फिर भी वे महान् थे, क्योंकि वे मानव थे।'

कान्तने प्रभावित होकर धीरेसे कहा, 'वे महामानव थे।'

'और उसी महामानवके लिए तुम रोते हो। वे महान् थे; उनका अन्त भी उतना ही महान् है। क्या आजतक किसीने ऐसी मृत्यु पाई है? क्या कोई गाँधीकी तरह अपने जीवनमें सफल हुआ है? क्या कोई इन्सान जीते-जी, ईश्वर बना है? और क्या···।'

सहसा उनका गला रुँध गया। उन्होंने किसी तरह अपना वाक्य पूरा किया, 'और क्या···क्या किसी युगमें इन्सानने ईश्वरको गोली मारी है?' और फिर आगे बोलनेमें असमर्थ उन्होंने आँखें मींच लीं। कमरेका गहन सन्नाटा एक बार फिर बह चला। एक बार फिर आँसुओं-का बाँध टूट गया।

फरवरी १९४८

तभी, देखा, मित्र लौट आये हैं और उनका चेहरा पीला पड़ गया। 'क्या हुआ तुम्हें ?' कान्तने उनसे पूछा।

'क्या बात है ?' दूसरे बन्धु बोले।

मित्र एकटक देखते ही रह गये।

कान्त दुनियामें लौटने लगा। पूछा, 'आप बिरला-भवन गये थे।'

'हाँ···'

'तो गाँधीजी···'

'गाँधीजी उसी तरह शान्त निर्द्वन्द्व लेटे हैं। उनके मुखपर पूर्णतः दया और क्षमाके भाव हैं।'

भावनाने एक बार फिर सबको तड़पा दिया। आँसू बाँध तोड़कर बह चले। भर्राये गलेसे एक बन्धु बोले, 'वे योगी थे। उन्होंने उसी क्षण समाधि लगा ली होगी।'

'जी हाँ,' मित्र बोले, 'वे समाधिमें थे। गोली लगते ही उन्होंने "हे राम" कहा और प्राण त्याग दिये।'

माँ बोलीं, 'तनिक भी नहीं तड़पे ! कैसी मौत पाई है !'

और फिर वे सब शान्त हो गये। पासके कमरेमें भी निस्तब्धता छा गई। रसोईघर उसी तरह अस्त-व्यस्त पड़ा रहा और वह लड़की उसी तरह दीवारसे चिपकी खड़ी रही। उसके बापने कहा, 'इसने खाना खानेसे इनकार कर दिया है।'

किसीने कुछ जवाब नहीं दिया। लाहौरसे कोई व्यथित स्वरमें गाँधीजीके गुण गा रहा था, 'वे संसारके श्रेष्ठ मानव थे। वे सत्य, अहिंसा और प्रेमके पुजारी थे···।'

तभी बहुत देरसे तन्मय तल्लीन एक बन्धु गम्भीरतासे बोले, 'मैं कहता हूँ, हम गाँधीजीके लिए शोक क्यों करें ? वे सैनिक थे और सैनिककी भाँति उन्होंने छातीपर गोली खाकर वीरगति प्राप्त की। उन्होंने अपने जीवनमें अपने स्वप्नोंको फलते देखा। उन्होंने कोटि-कोटि मानव समुदायको एक राष्ट्रमें गूँथा। वे अछूतोंके त्राता थे और स्त्रियोंके मार्ग-प्रदर्शक।

वे किसानोंके मित्र थे और मजदूरोंके बन्धु। वे गृहस्थियोंके सलाहकार थे और संन्यासियोंके आदर्श। वे सबसे बड़े साम्यवादी थे; वे धर्मकी मूर्ति थे। वे साहित्यको जीते थे, सत्य उनकी धमनियोंका रक्त था और अहिंसा उनका प्राण। उनकी क्रान्ति शान्त थी, उनका विद्रोह मधुर था। उन्होंने राजनीतिके दूषित वातावरणमें मानवताकी प्राण-प्रतिष्ठा की थी। उनके अन्तरमें विरोधी तत्त्वोंका अद्‌भुत सम्मिश्रण था। फिर भी वे महान् थे, क्योंकि वे मानव थे।'

कान्तने प्रभावित होकर धीरेसे कहा, 'वे महामानव थे!'

'और उसी महामानवके लिए तुम रोते हो। वे महान् थे; उनका अन्त भी उतना ही महान् है। क्या आजतक किसीने ऐसी मृत्यु पाई है? क्या कोई गाँधीकी तरह अपने जीवनमें सफल हुआ है? क्या कोई इन्सान जीते-जी, ईश्वर बना है? और क्या···।'

सहसा उनका गला रुँध गया। उन्होंने किसी तरह अपना वाक्य पूरा किया, 'और क्या···क्या किसी युगमें इन्सानने ईश्वरको गोली मारी है?' और फिर आगे बोलनेमें असमर्थ उन्होंने आँखें मींच लीं। कमरेका गहन सन्नाटा एक बार फिर बह चला। एक बार फिर आँसुओं-का बाँध टूट गया।

फरवरी १९४८

: २ :

राजा और राजेन्द्र





"यह निःसन्देह नियतिका व्यंग है कि जिस देशने स्वतन्त्र होते ही राजाओंको समाप्त करके जनतन्त्रकी स्थापना की उसे अपने सर्वोच्च अधिकारीके रूपमें राजा ही मिले !"

यह बात एक मित्रने बहुत गम्भीर होकर कही थी, पर जब दूसरे मित्र चकित-विस्मित उनकी ओर देखने लगे तो वह खिलखिलाकर हँस पड़े और अपनी बात पूरी करते हुए बोले, "यह दूसरी बात है कि राजा उनके पदका नहीं, नामका अंग है।" सुनकर और मित्र भी सब खिलखिला पड़े। लेकिन आप देखें तो बात केवल इतनी ही नहीं है। राजाजी मात्र 'राजा' नहीं हैं, चक्रवर्ती भी हैं, और राजेन्द्र बाबू तो राजाओंके राजा हैं ही। तो आज चक्रवर्ती जा रहे हैं और राजेन्द्र आ रहे हैं। चक्रवर्तीके साथ गवर्नर-जनरलोंकी वह परम्परा समाप्त होती है जिसका आरम्भ एक दिन वारेन हेस्टिंग्सके साथ हुआ था और राजेन्द्रके साथ उस परम्पराका आरम्भ होता है जिस पर स्वतन्त्र देश गर्व किया करते हैं। एकके साथ

दासताकी अन्तिम निशानीका अन्त होता है, दूसरेके साथ मुक्त-स्वतन्त्रताका आरम्भ होता है। दासताका अन्त ही स्वतन्त्रताका आरम्भ है। यह अन्त और आरम्भ एक ही सत्ताके अविच्छिन्न रूप हैं। दोनों एक हैं। दोनों एक हैं तो क्या राजाजी और राजेन्द्र बाबू भी एक हैं? इस प्रश्नका उत्तर "हाँ" भी है और "न" भी।

हाँ! वे दोनों एक हैं। वे दोनों भारतकी स्वतन्त्रताके आधार-स्तम्भ और भविष्यकी आशा हैं। वे दोनों राष्ट्रीय महासभाके तपे हुए नेता और स्वातन्त्र्य-संग्रामके वीर सेनानी हैं। वे दोनों गाँधीजीके निकटस्थ साथी और शिष्य हैं। दोनोंकी देशभक्ति सन्देहसे परे, चरित्र निष्कलंक और प्रतिभा अपूर्व है। दोनोंके अन्तरमें शक्ति, गति और कार्यक्षमताका अजस्र स्रोत है। दोनों लेखनीके धनी और सुन्दर साहित्यके निर्माता हैं। दोनों परम आस्तिक और धर्मप्राण व्यक्ति हैं। राजाजी मानते हैं, "पाण्डित्य नहीं बल्कि धर्म ही चरित्रका निर्माण करता है।" संन्यासी होनेकी भावना रह-रहकर उनके भीतर मचल उठती है। राजेन्द्र बाबू तो साधु हैं ही।

दोनों समाज-सुधारक हैं। राजाजीने हरिजनोंके मन्दिर-प्रवेशके लिए जो प्रयत्न किये वे अमर हैं। उनकी पुत्रीका विवाह गाँधीजीके पुत्रके साथ हुआ है। वह न केवल अन्तर्प्रान्तीय है बल्कि अन्तर्जातीय भी है। राजेन्द्र बाबूने बिहार जैसे पिछड़े प्रान्तमें अपनी पत्नीको परदा तोड़नेके आन्दोलनमें आगे बढ़ाया था और इंग्लैंडसे लौटे हुए डा० गणेशप्रसादके साथ भोजन करके प्रान्तभरमें तूफान पैदा कर दिया था। दोनों शान्त क्रान्तिकारी हैं।

दोनों अपने विश्वासोंको जीना जानते हैं। कोई भी शक्ति, कोई भी प्रलोभन उन्हें अपनी मान्यतासे विचलित नहीं कर सकता। नाटकीयता दोनोंके लिए विदेशी है। राजाजी कभी अस्थिर और अशान्त नहीं होते। उतावलापन उनकी प्रकृतिमें नहीं है। राजेन्द्र बाबू बड़ेसे बड़े संकटकालमें भी शान्त और गम्भीर बने रहते हैं। राजाजी ठेठ भारतीय हैं; राजेन्द्र

बाबू उनसे भी एक कदम आगे हैं। वह ग्रामीण भारतके सर्वोत्तम प्रतिनिधि हैं; वह भारतीय मानवके सुन्दर प्रतीक हैं।

राजाजीका एक वाक्य है, "प्रसन्नतामें ईश्वरका निवास है।" इसलिए वह खुद हँसते और हँसाते हैं। राजेन्द्र बाबू भी विनोदप्रिय हैं। परन्तु जहाँ राजाजीके विनोदमें बौद्धिक गहराई चोट करती है वहाँ राजेन्द्र बाबूके विनोदमें हृदयकी कोमलता छलकती है। दोनोंका अन्तर यहींसे शुरू होता है।

राजाजी कदके छोटे और शरीरके दुबले-पतले हैं। उनकी गरदन कुछ आगेको झुक आई है और उनका सिर अनुपातसे बड़ा लगता है। उनका ललाट प्रशस्त है और नाक भी अपेक्षाकृत बड़ी है। अपनी आँखोंको वह सदा धुँधली ऐनकके पीछे छिपाये रखते हैं। वह अपने हृदयका भेद किसीको नहीं देना चाहते। इसपर कुछ लोग कहते हैं, राजाजीके पास हृदय ही नहीं है। उनकी इस मान्यताका कारण है, राजाजीको किसीने कभी भावनामें बहते नहीं देखा। उनकी कुशाग्रबुद्धि आँसुओंकी शक्तिमें विश्वास नहीं करती, परन्तु फिर भी उनके पास हृदय है और धड़कता हुआ हृदय है। उनका परिचय पानेके लिए हमें उनकी कहानियोंको पढ़ना होगा। बात यह है राजाजी हृदय खोलनेमें विश्वास नहीं करते। वह न घनाओंसे प्रभावित होते हैं, न व्यक्तियोंसे। वह प्रश्नको प्रश्नकी तरह हल करते हैं और फिर जो उत्तर मिलता है उसे पूरे विश्वासके साथ अपने जीवनमें उतारते हैं। वह दानव-राज बलिका मान-मर्दन करनेवाले उस वामनावतारके समान हैं जो दो पगमें ही त्रिलोकीको नापनेकी शक्ति रखता था।

राजेन्द्र बाबूका कद लम्बा और शरीर भरा हुआ है। वह देखनेमें किसानके समान लगते हैं। उनकी आँखोंके चारों ओर, भौंहोंसे लेकर नीचे नाकके साथ-साथ, एक चक्र-सा बन गया है। पास जाकर जरा इस चक्रके भीतर उनकी आँखोंमें झाँकिए और उनकी गम्भीर मुखमुद्राके पीछे सदा रहनेवाली अन्तर्मुखी मुसकानको देखिए। क्या आप इन्हें भला

सकेंगे ? इनके पीछेसे होकर सरलता और सचाई, इनके स्पन्दनशील हृदय-का परिचय देती हुई, आपकी ओर झाँक रही है। राजेन्द्र बाबू बालक-की तरह सरल, साधुकी तरह सीधे और माँकी तरह स्नेहसे पूर्ण हैं। उनकी ज्वलन्त योग्यता और कार्य करनेकी अद्‌भुत शक्ति लोगोंको अक्सर भ्रममें डाल देती है। राजाजीके चारों ओर एक रहस्यका, एक महानता-का वातावरण बना रहता है। धुँधली ऐनकके बावजूद राजाजीको देखते ही ऐसा लगता है जैसे हम किसी बड़े आदमीके सामने खड़े हैं। यद्यपि नेहरू और पटेलकी भाँति वह डराते नहीं तो भी, राजेन्द्र बाबूके विप-रीत उनकी बुद्धि उनके सिरपर चढ़कर बोलने लगती है। राजेन्द्र बाबू-की आकृति, रहन-सहन, वेश-भूषा और डीलडौलमें बड़प्पनकी छाया नहीं है, पर उनकी गम्भीरता, प्रतिभा, नियन्त्रणशक्ति और संचालन-क्षमता अपूर्व है। वह गुदड़ीके लाल हैं और बिहारियोंके परम्परागत सब सद्‌गुणोंके पुंज हैं। वह वस्तुतः जनक, बुद्ध और अशोककी परम्पराके एक अमूल्य रत्न हैं। राजाजी विश्वामित्र और चाणक्यकी परम्पराके योग्यतम व्यक्ति हैं।

राजाजी युद्धमें हारना नहीं जानते, राजेन्द्र बाबू भी सदा जीते हैं; फिर भी दोनोंका मार्ग एक-दूसरेसे बिलकुल भिन्न है। राजाजी वाद-विवादके रक्त-रहित सर्जन हैं। वह विरोधीको निर्ममताके साथ पराजित करनेमें रस लेते हैं। वह अपनी कठोरताको धुँधली ऐनकके पीछे छिपाकर (काश कि सरदार पटेलके पास भी वह ऐनक होती!) बाहरसे हँस-हँसके शत्रु-पक्षपर चोट करते हैं। खरे-प्रकरणमें जब अणे और दत्त मजूमदार आदि वक्ताओंके धुआँधार भाषण सुनकर सदस्योंकी सहानुभूति डा० खरेके साथ होती जा रही थी और यह डर था कि कहीं काँग्रेस हाई कमाण्डको पराजयका मुँह न देखना पड़े, राजाजी मंचपर आये और उन्हींके शब्दोंमें उन्होंने 'मद्रासी इंगलिश' में बोलना शुरू किया। उन्होंने शान्त पर विश्वत स्वरमें, उक्तिपर उक्ति देकर, देखते-देखते शत्रु-पक्षको बिलकुल निःशस्त्र कर दिया। उनका वह भाषण (अक्तूबर १९३८)

द्राविड़ हास्य-विनोदसे पूर्ण था। वह प्राच्य साहित्यके विद्वान् हैं। उनकी बुद्धि भी वैसे ही बन गई है। समानार्थी उद्धरण देनेमें, जिनका वह तर्कके रूपमें प्रयोग करते हैं, वह अद्वितीय हैं।

विद्वान राजेन्द्र बाबू भी हैं; पर वह विरोधीको न तो राजाजीकी भाँति अपने ज्ञानके बोझसे कुचलते हैं, न सरदार पटेलकी तरह उसपर निर्मम प्रहार करते हैं और न नेहरूजीकी तरह झुँझलाते हैं। वह उसे पूरी ढील देते हैं। उसकी बात सुनते हैं, उसे अपनी ईमानदारीका पूरा विश्वास दिलाकर निःशस्त्र करते हैं और अपना काम बना ले जाते हैं। यह उनका स्वभाव है, साधन नहीं। इसी स्वभावके कारण जब-जब देशके राजनीतिक जीवनमें संकटकाल आया तब-तब जनताकी आँखें उनकी ओर उठी। १९३५ में जब सत्याग्रहकी समाप्तिपर देशमें पराजयका क्षोभ उठ रहा था, एक ओर युवक दल साम्यवादकी ओर बढ़ रहा था, दूसरी ओर मालवीयजी कम्यूनल अवार्डको लेकर आन्दोलन कर रहे थे, १९३९ में जब सुभाष बाबूके संघर्षके कारण काँग्रेस फूटके भँवरमें फँस रही थी, १९४७ में जब शासनकी बागडोर सम्हाल लेनेपर सरकारके भीतर और बाहर रहनेवाले दोनों दल आपसमें लड़ रहे थे तथा आचार्य कृपालानी राष्ट्रपतिका पद त्याग चुके थे, तब राजेन्द्र बाबूने ही देश और कॉंग्रेसकी लाज रखी थी। बिहार-भूकम्पके अवसरपर और संविधान-परिषद्के अध्यक्षके रूपमें, सबके आदमी बनकर, उन्होंने जिस कुशलता और सद्भावनासे कार्य किया वह उनकी विलक्षण सूझ-बूझ और शक्तिका परिचायक है।

व्यवस्था और कार्यकुशलतामें राजाजी भी राजेन्द्र बाबूसे पीछे नहीं हैं। अन्तर इतना है, राजेन्द्र बाबू हृदयकी शक्तिसे शासन करते हैं राजाजी मस्तिष्ककी। दोनों ही जिस बातको एक बार विश्वासके रूपमें मान लेते हैं उसे फिर करना जानते हैं। सत्याग्रह-संग्रामके पहले दौरमें राजाजी देशबन्धु और बड़े नेहरू मोतीलाल जैसे दिग्गजोंके विरोधमें अपरिवर्तनवादियोंके नेता थे, लेकिन जिस दिन उन्होंने धारासभाके महत्त्वको समझ

लिया उस दिन वह अपने समकालीन सभी प्रधान मन्त्रियोंको कोसों पीछे छोड़ गये। राजाजी वस्तुतः उन व्यावहारिक लोगोंमेंसे हैं जो उत्तर-दायित्वके पदपर पहुँचते ही हवाई आदर्शवादको हवामें उड़ा देते हैं। उन्हें बेकनकी इस उक्तिमें पूरा विश्वास है कि "ऊँचे विचार हृदयमें पैदा होते हैं परन्तु पनपते मस्तिष्कमें हैं।" इसलिए कैसा भी विरोध हो वह उन्हें चिन्तित नहीं करता। 'सलेममें शराबबन्दी होगी' और वह हुई। 'मद्रासमें हिन्दी पढ़ाई जायगी' और वह पढ़ाई गई। 'मुस्लिम लीगकी माँगको स्वीकार करके किसी-न-किसी रूपमें समझौता करना ही होगा' और वह करना पड़ा। देश विरुद्ध था, साथी विरुद्ध थे, गाँधीजी विरुद्ध थे; पर राजाजीको कोई आतंकित न कर सका। वह काँग्रेससे अलग हो गये, देशने उन्हें विरोधी दृष्टिसे देखा—यह स्थिति बड़ेसे बड़े शक्तिशालीको समाप्त करनेको पर्याप्त थी, पर राजाजी चट्टानकी तरह अडिग रहे। यह कितनी आश्चर्यकी बात है कि उसी राहपर चलते हुए गाँधीजीको प्राण देने पड़े, पर राजाजी ऊँचेसे ऊँचा पद पानेको फिर काँग्रेसमें लौट आये।

ऊपर कहा है, दोनों गाँधीजीके निकटस्थ साथी और शिष्य हैं, परन्तु राजाजी गाँधीनीतिके आचार्य हैं और राजेन्द्र बाबू उसको जीने वाले। वास्तवमें राजेन्द्र बाबू गाँधीवादके सुमधुर और सुगन्धित परिणाम हैं। वह काँग्रेसी नेताओंमें गाँधीजीके सबसे समीप हैं।

दोनों लेखक हैं, परन्तु यह आश्चर्यजनक बात है कि कुशाग्रबुद्धिवाले राजाजी उपनिषद् और वेदान्तचर्चाके साथ कहानियाँ भी लिखते हैं! उन कहानियोंमें वह दूसरोंके दुखोंको लेकर आँसू बहाते हैं। उन्हें पढ़कर ऐसा लगता है मानो राजाजीका सारा शरीर हृदयमय है और वह अपने आँसुओंको छिपानेके लिए धुँधली ऐनक लगाते हैं। राजेन्द्र बाबूने कहा-नियाँ नहीं लिखी हैं, आपबीती (आत्मकथा) लिखी है। और उनके स्वभाव-के अनुरूप उसके अक्षर-अक्षरसे सरलता और स्निग्धता उमड़ी पड़ती है। पुत्रवधूकी मृत्युकी चर्चा करते हुए उन्होंने लिखा है, "मैं पटना जिलेके

गाँवोंमें हिन्दू-मुस्लिम दंगा रोकनेमें लगा रहा। जहाँ इतने लोग मारे गये थे और इतने घरोंमें शोक और कोलाहल था वहाँ अपना शोक एक प्रकारसे शरमाकर दब-सा गया।" भावनाकी दृष्टिसे, गोखलेकी समितिमें प्रवेश करनेकी आज्ञा माँगनेके लिए, उन्होंने जो पत्र अपने बड़े भइयाको लिखा था वह साहित्यकी सम्पत्ति है। उससे प्रकट होता है कि देश-सेवाके लिए उनकी आत्मा शुरूसे ही तड़पती रही थी।

पर इन सब बातोंका यह अर्थ हरगिज नहीं है कि लोगोंको राजेन्द्र बाबूसे कोई शिकायत नहीं है। उन्हें बड़ी शिकायत है कि राजेन्द्र बाबू इतने भोले क्यों हैं? पर शिकायत करनेवाले यह भूल जाते हैं कि भोले न होते तो दूसरोंको इतना समझते कैसे? बुद्धि अक्सर दो आदमियोंके बीचमें आड़ बन जाती है। इसलिए राजेन्द्र बाबूकी यह कमजोरी ही उनकी सबसे बड़ी शक्ति है। फिर ठगे जायँ ऐसे भोले भी वह नहीं हैं। वह तो विरोधीको ठगनेवाले अर्थात् अपना बनानेवाले हैं। उनपर दूसरा आक्षेप यह है कि उनका दृष्टिकोण सीमित है। हो सकता है इस आक्षेप-में कुछ सचाई हो, परन्तु समझनेकी बात यह है कि यदि ग्रामीण (वास्त-विक) भारतका प्रतिनिधि अपने दृष्टिकोणको अधिक व्यापक बनाकर चले तो क्या जनतासे दूर नहीं पड़ जायेगा? उसे साथ रखनेको ही राजेन्द्र बाबू कुछ पीछे रहते जान पड़ते हैं। इसी कारण वह अपने प्रान्तमें जितने लोकप्रिय हैं उतना और कोई नेता और किसी प्रान्तमें नहीं है।

राजाजी तूफानकी शक्तिसे परिचालित होते हैं, पर वह तूफान सदा शान्त होता है। वह दूरसे कुछ उदासीन और कुछ सख्त जान पड़ते हैं, पर पास जानेपर किसीको निराश नहीं करते। पर उनके पास जाना ही कठिन है। राजेन्द्र बाबूके पास जाना बहुत सरल है। बावजूद उनके जागरूक मंत्रियोंके वह सबको सुलभ है। वह वस्तुतः उस मलय समीरकी भाँति हैं, जो बिना शोर मचाये, बिना किसी भेदभावके, सबको सुख पहुँचाता है।

राजाजी जा रहे हैं। संकटकालमें उन्होंने पतवारको बडी कुशलताके

साथ थामा था, परन्तु अब तो भारत जनतन्त्र बन गया है। बुद्धिकी परीक्षा अब समाप्त हो चुकी है। ज्ञानको उत्तेजित करनेकी अब उतनी आवश्यकता नहीं है, जितनी ज्ञानसे जीनेकी। अज्ञान मनुष्यका शत्रु नहीं है, शत्रु है ज्ञानका दम्भ और वह दम्भ मिट सकता है ज्ञान और भावनाके समन्वयसे। राजेन्द्र बाबू उस समन्वयके मूर्तिमान् स्वरूप हैं। हृदय और मस्तिष्कके योगका नाम प्राण है, उसी प्राणकी भारत आज अपने सर्वोच्च शिखरपर प्रतिष्ठा कर रहा है। उसकी जय हो! और इससे अधिक उसकी जय हो जिसने अन्धकारका नाश करके अरुणका मार्ग प्रशस्त किया है! देश आज राजाजीको कृतज्ञ-प्रणाम करता है और राजेन्द्र बाबूका स्नेह-स्वागत करता है।[१]

जनवरी १९५०

---

१. इस शब्दचित्रको लिखे दस वर्ष बीत गये। इसी बीचमें राजाजी कहींसे कहीं पहुँच गये हैं परन्तु इस चित्रकी रेखाओंमें किसी विशेष परिवर्तनकी आवश्यकता नहीं है।



मिस्टर स्मिथ

मिस्टर स्मिथको पहली बार मैंने कब देखा, यह तो ठीक याद नहीं पर जिस पहली मुलाकातकी धुँधली-सी याद आज शेष रह गई है उसने उसकी शान और शराफत दोनोंका काफी प्रभाव मुझपर छोड़ा है। उसका विशाल शरीर, जो शक्ति और सहानुभूति दोनोंका आगार था, हर किसीको भय और विश्वाससे भरता था। उसका सम्बन्ध इंग्लैंडके एक प्रसिद्ध कुलसे था और कुलका यह अभिमान उसकी प्रत्येक गतिविधिसे प्रति क्षण टपकता रहता था। वह सदा शानदार पोशाक पहनता था। उसके मित्रोंकी संख्या जितनी अधिक थी, उनका पद भी उतना ही ऊँचा था। ब्रिटेनके अनुदारदली मन्त्रिमण्डलमें, भारतके गवर्नरोंमें, ऊँचे अफसरोंमें—सब कहीं उसके नातेदार और मित्र थे। अनेक भारतीय राजा और दीवान उसकी कृपाके अभिलाषी रहते थे।

आये दिन उसके घर मेहमानोंका ताँता लगा रहता था जिनमें नारियोंकी संख्या अनुपातसे कुछ अधिक ही रहती थी; और उनको लेकर उसके नौकर जो चर्चा किया करते थे, उसका वर्णन शिष्टता और

शालीनताकी सीमारेखाको पार कर सकता है। लेकिन यह अचरजकी बात है कि मिस्टर स्मिथ न शराब पीता था और न सिगरेट, उसको घुड़दौड़का बहुत शौक था, लेकिन दाँव लगानेका नहीं, बल्कि जज बनकर दूसरोंके भाग्यका निर्णय करनेका।

मिस्टर स्मिथ भारतकी सबसे बड़ी पशुशालाका आला अफसर था— उस पशुशालाका जहाँकी गायोंकी तो बात ही क्या, गधे भी आठ सौ रुपयोंमें बिका करते थे। उसका वेतन भी आठ सौसे ही आरम्भ हुआ था और शिक्षाके नाम वह बिलकुल कोरा था। एक दिन पत्र लिखते-लिखते एकाएक उसने गरदन उठाकर मुझसे कहा, "बाबू, मेहरबानी करके मुझे 'बिलीव'के हिज्जे तो बताओ।"

मैं सहसा कुछ समझ नहीं सका। उसने अपना प्रश्न दोहराया। और तब उसका अर्थ समझकर मैं ठगा-सा देखता रह गया। लेकिन वह मुसकराकर बोला, "जानते हो मैं कितना पढ़ा हूँ?"

मैंने विनम्रतासे उत्तर दिया, "जी, नहीं।"

उसने कहा, "चौथी क्लासतक।"

और मैं कुछ सोच सकूँ वह बोल उठा, "मुझे हिज्जे बिलकुल नहीं आते। इसी कारण मैं तीन बार कप्तानीकी परीक्षामें फेल हो चुका हूँ।"

यह एक आश्चर्यजनक बात थी। आजके डिग्रियों और विशेषज्ञोंके युगमें इस बातपर कोई एकाएक विश्वास करना भी नहीं चाहेगा। पर पिछली पीढ़ीके अनेक अनपढ़ोंने हमें पढ़ाया है, इससे भी कोई इनकार नहीं कर सकता। लेकिन इस तथ्यकी अद्‌भुतता यहीं समाप्त नहीं हो जाती।

बात आगे बढ़ाते हुए उसने अपनी जेबसे जैम डिक्शनरी निकाली और बोला, "मैं इस कोशको सदा जेबमें डाले रहता हूँ। तुम शायद विश्वास नहीं करोगे, मैंने तीन बार इस कोशको जबानी याद करनेका प्रयत्न किया है···" और फिर बात समाप्त करनेसे पूर्व ही वह खुलकर हँस पड़ा।

वह अफ़सर था और मैं क्लर्क—उसी अनुपातसे हँसते हुए मैंने कहा, "जनाब, सचमुच हिज्जे याद करना एक हुज्जत है।"

वह वास्तवमें एक सैनिक था, विशाल शरीर, आजानुबाहु, विशाल वक्षःस्थल, प्रशस्त ललाट, शानदार लम्बा चेहरा, जिसकी खाल यद्यपि ढीली पड़ गई थी पर उसके रोबमें कोई अन्तर नहीं पड़ा था; कुछ नीली कुछ भूरी आँखें, जिनमेंसे शान और शालीनता एक साथ झाँकती थी, मोटी और लम्बी उँगलियाँ, जिनकी पकड़में अद्‌भुत दृढ़ता थी; वह चलता था तो मानो धरती काँपती थी। ये सब उसे एक अच्छा सैनिक बनानेको काफी थे।

लेकिन हिज्जोंके कारण सेना उसे स्वीकार नहीं कर सकी और उसे पशुशालाका अध्यक्ष बनना पड़ा। वह जबतक वहाँ रहा उसने अपने कामको समझनेका पूरा प्रयत्न किया और मैं जानता हूँ कि अपने किसी कामके लिए लज्जित होनेका अवसर उसे शायद ही कभी मिला हो।

उसे सैनिकका शरीर ही नहीं मिला था, उसका मन भी एक सैनिक-का मन था—एक साथ उद्धत और मानवी करुणासे ओतप्रोत। उसकी गतिमें आवेश था, पर उसके होठोंपर मुसकान थी। कोई नहीं जानता था वह कब किसको पीट देगा। लेकिन यह सब जानते थे कि पीटनेके कुछ क्षण बाद ही वह उसके घर जाएगा या उसे अपने पास बुलाकर उससे माफी माँग लेगा। वैसे मैं जानता हूँ कि सात सालके मेरे उसके सम्पर्कमें शायद सात बार भी ऐसा न हुआ हो। माफी तो यों वह साधारण-सी बातपर माँग लेता था। वह बहुत जल्दी आवेशमें आ जाता था। फिर उसके लिए उसे दुख होता था। तब आंतरिक पश्चात्ताप-दग्ध उसकी मुसकान बड़ी करुण हो जाती थी।

वह छोटे-बड़ेमें भेद करना नहीं चाहता था, पर साधारणतया एटी-केटका वह प्रबल पोषक था। एक दिन वह इसी बातपर एक बहुत ही योग्य क्लर्कसे क्रुद्ध हो उठा। वह क्लर्क बेतकल्लुफीसे पतलूनमें हाथ

डाले उसे कुछ समझा रहा था कि सहसा मिस्टर स्मिथने तीव्रतासे कहा, "पतलूनमेंसे हाथ निकालो !"

क्लर्क सहसा कुछ नहीं समझा। मिस्टर स्मिथ तब क्रोधके भूचालसे जैसे हिल उठा। चिल्लाकर बोला, "मैं कहता हूँ, जेबसे हाथ निकालो! अफसरके सामने जानेकी तमीज सीखो।"

इसके विपरीत उसी क्लर्कको उसने उस घटनासे पहले और बादमें अनेक बार स्वयं अपने सामने कुर्सीपर बैठा कर उससे बातें कीं।

यह सैनिककी सनक थी। उस सनककी अनेक कहानियाँ मुझे याद हैं। पंजाबकी एक रियासतके शासकको, वहाँके मन्त्रीके बार-बार कहने पर भी उसने महाराजा न लिखकर हमेशा राजा ही लिखा।

वह प्रतिक्षण काम करनेमें विश्वास करता था। कामके लिए उसे किसी भी क्षण दफ्तरमें बुलाया जा सकता था। जब कभी हमें पूरी-पूरी रात दफ्तरमें बितानी पड़ती, तो जान-बूझकर वह भी देरतक दफ्तरमें बैठा रहता। वह सदा इसको बतानेके प्रयत्नमें रहता कि वह हमारे साथ है।

मिस्टर स्मिथको चिट्ठी लिखनेका भी रोग था। वह अपने नातेदारों-को, अपनी पत्नीको, अपने मित्रोंको नियमित रूपसे पत्र लिखता था। पत्नीको वह रोज पत्र लिखता था। और सप्ताहके अन्तिम दिन सबको एक साथ डाकमें छोड़ देता था। जिस किसीको अपना तबादला कर-वाना होता या रुकवाना होता, उन्नतिका प्रश्न होता, नये स्थानकी खोज होती, तो फिर पुलिस, नहर, न्याय, व्यवस्था, शिक्षा—किसी भी विभाग-के अध्यक्षसे लेकर छोटे बाबूतक उसके पास दौड़े आते और वह उनको चिट्ठी लिखकर देता। लोग अपने ही नहीं, अपने नातेदारोंके लिए भी चिट्ठियाँ लेने आया करते थे। अपने वंशकी उच्च स्थिति और अपने मित्रों-की प्रचुरताका लाभ दूसरोंको बाँटनेमें उसने कभी कंजूसी नहीं की।

वह अंग्रेज था और मैंने देखा है हिन्दुस्तानी अफसर उसके जूतोंके फीते बाँधनेकी होड़ किया करते थे। एक बार बहुत-से लोगोंके सामने ही

तीन अफसर एक साथ ऐसा करनेके प्रयत्नमें आपसमें टकरा गये थे, तब वह चिनचिना पड़ा था और उसने किसीको भी अपने पास नहीं आने दिया था। वह इस सामूहिक धावेसे घबरा गया था।

उसे पता लगता कि उसके फार्मका कोई व्यक्ति बीमार है तो वह उसके लिए व्यग्र हो उठता। एक बार मैं उसके साथ स्टेशनसे लौट रहा था, सहसा उसे याद आया कि बड़ा बाबू बीमार है और पास ही रहता है, तभी उसके घर पहुँचकर उसने सबको अचरजमें डाल दिया। मुझे याद है कि जब कुछ ही घंटोंमें मेरे देखते-देखते मेरा भानजा चल बसा, तो ऊपरसे शान्त रहने पर भी मैं कई दिनतक सो नहीं सका था। उसने मेरी छुट्टीका प्रार्थनापत्र पाते ही बड़े बाबूसे सब बातें पूछीं, दूसरे दिन भी पूछा, तीसरे दिन वह स्वयं दवा लेकर आया, इसपर भी मुझे नींद नहीं आई, तो चौथे दिन उसने एक गोली भेजी और कहलाया कि यदि आज नींद नहीं आती है तो कल मेरे पास आकर सोना। मैं देखूँगा कि नींद कैसे नहीं आती!

शायद दवाके प्रभावसे या उसके डरसे मुझे उस रात नींद आ गई, लेकिन मेरा वह एक दिनकी छुट्टीका प्रार्थनापत्र जिसपर उसने लिखा हुआ है 'बाबू, उसे रातको नींद आई या नहीं ?' मेरे लिए एक बहुमूल्य सम्पत्ति बन गया है।

सांप्रदायिक उत्पातके दिनोंमें उसने मुझे ढूँढ निकाला और कमिश्नरके सामने ही मुझसे पूछा कि मुझे कोई डर तो नहीं है ? उन भयंकर दिनोंमें मैंने सदा उसे खतरेकी चिंता किये बिना हर कहीं घूमते देखा था। उसके एक हिन्दुस्तानी मित्र, जो नगरके रईस थे, उस उत्पातमें मारे गये थे। वह उनके घर गया और चुपचाप मक्खियों और शोरगुलके बीच घंटों वहाँ बैठा रहा।

एक बार जब हमारे दफ्तरमें डकैतीका मामला हुआ तो यह मिस्टर स्मिथ ही था जिसने लोलुप और खूँखार पंजाब पुलिससे हमारी रक्षा की थी। आज भी उन दिनोंकी याद करके सहम उठता हूँ। फार्मपर अकसर

साँप काटनेकी घटनाएँ हो जाया करती थीं। तब दवा लेकर वन्य-बेदन लोगोंकी तलाशमें भटकते मैंने उसे देखा है। मैं उसके निजी नौकरोंकी बात यहाँ छोड़ रहा हूँ जिनको वह पीट देता था, पर जिनकी आँखोंमें आँसू देखकर वह कुछ भी करनेको तैयार हो जाता था।

एक मजेदार घटना मुझे याद हो आई है। उसने मुझसे कई बार कहा था, "देखो बाबू, हमारी मेम साहब खुश तो हम खुश। वह नाराज तो हम नाराज।" उसकी मेम साहब भी ऊँचे कुलकी संभ्रान्त महिला थी। वह सुन्दर और मिष्टभाषी थी। एक बार वह अपने एक कारीगरसे नाराज हो गई और मुझे आज्ञा दी कि मैं उसके बिलका पूरा भुगतान न करूँ। वह कोई गरीब आदमी था। रोता हुआ मेरे पास आया। मैंने सब कुछ सोचकर उससे कहा, "जाकर साहबके पैर पकड़ लो।"

उसने ऐसा ही किया और उसे पूरे पैसे मिल गये। लेकिन जब मेम-साहबको पता लगा तो वह क्रुद्ध हो उठी। मुझे बुलाकर उसने कैफियत माँगी।

मैं इसके लिए तैयार था।

मैंने कह दिया, "मिस्टर स्मिथने मुझसे पूरा भुगतान करनेके लिए कहा था।"

"किसने कहा था?" वह एकाएक चिनचिना उठी।

"मिस्टर स्मिथने," मैंने और भी दृढ़तासे कहा।

अपनी उस दिनकी दृढ़तापर मुझे स्वयं अचरज हुआ और मेम साहबको भी। लेकिन उसके बाद फिर किसीने मुझसे उस घटनाकी चर्चा नहीं की। सोचता हूँ शायद पति-पत्नीके बीच इस घटनाकी चर्चा हुई हो, शायद न भी हुई हो—पर समझ वे दोनों गए थे।

सामाजिक वह इतना था कि लोगोंसे मिलनेका कोई अवसर वह नहीं चूकता था। फुटबालके मैचोंका वह स्थायी रेफरी था और शरारत करने

वालेको गेंदकी तरह उठाकर फेंक देना उसके लिए बड़ी साधारण बात थी। फार्मपर भी उसने क्लब खुलवाई थी और उसमें वह एकदम घुल-मिल जाता था। वह जानता था कि मैं लेखक हूँ, इसीलिए वह सदा इस बातपर जोर देता था कि मैं क्लबमें जाऊँ। उसकी दृष्टि बड़ी तेज थी और व्यापक भी। इसी कारण उसके सब दोष उसके मानवी हृदयकी छायामें छिप जाते थे।

मिस्टर स्मिथ मजाक और व्यंग्य भी खूब करता था। फिर खूब जोरसे हँसना या मौन रह जाना उसे आता था। शुरू-शुरूमें आर्यसमाजसे प्रभावित रहनेके कारण कपड़े पहनने और हजामत बनानेके मेरे अपने नियम थे। मोटा खद्दर पहनता था, उसपर भी अकसर धोती पहनकर दफ्तर चला जाता। हजामत तो सात दिनमें एक बार बनाता था।

एक दिन वह मुझसे कहने लगा, "मैं तुमको कुछ भेंट देना चाहता हूँ—क्या लोगे?"

मैं मुसकरा कर रह गया। लेकिन वह मेरी तरफ देखता हुआ बड़ी गम्भीरतासे बोला, "अच्छा, मैं बताऊँ—बाजार जाकर एक सेफ्टी रेजर खरीद लाओ!" कहकर वह चुपचाप कागजोंपर दस्तखत करने लगा। उसके बाद हुआ यह कि मैं चौथे दिन शेव करने लगा।

मिस्टर स्मिथ विश्वास करना भी जानता था और जब वह विश्वास करता था तो सोलहों आने विश्वास करता था। उसकी आमदनी और खर्चका हिसाब दफ्तरका एक क्लर्क रखता था। लगभग तीन वर्षतक उसने हिसाब नहीं दिया; और जब तीन वर्ष बाद हिसाब बना तो उसमें मिस्टर स्मिथके नाम ढाई हजार रुपये निकलते थे। मिस्टर स्मिथको उसे अस्वीकार करनेका पूरा अधिकार था, फिर वह हिसाब भी साफ नहीं था। लेकिन उसने केवल एक वाक्य कहा, "मुझे पहले बता देते, बाबू।" और उसने पूरी रकमका चैक काट दिया।

फिर सात वर्षतक मैं उसका हिसाब रखता रहा। उसके यहाँसे जानेके क्षणतक कोई ऐसा अवसर मुझे स्मरण नहीं है जब उसने कभी शंकाका

आभासतक होने दिया हो। उसकी पत्नी उसके विपरीत हिसाब समझनेमें विश्वास करती थी। उसके आनेपर मिस्टर स्मिथने हँसकर मुझसे कहा था, "अब तुम जानो और मेम साहब जानें।" लेकिन मुझे याद है जब कोई बात उसतक पहुँची उसने सदा मेरा पक्ष लिया। जबतब वह मेम साहबसे यही कहा करता था, "नहीं, नहीं, हमें उसकी बात मान लेनी चाहिए।"

शायद पीठ पीछे मेम साहब उसपर नाराज होती हों, पर मुझपर वह कभी नाराज नहीं हुई।

मिस्टर-स्मिथ नाराज होना नहीं जानता था, सो बात नहीं। वह मेरी बेवकूफियोंपर भी चीखा है, पर अकसर वह उन्हें सह जाता था। एक दिन उसने मुझसे कुछ कहा। मैं समझ न सका। कई बार कहने पर भी नहीं समझा। तब वह चिनचिनाया नहीं बल्कि शान्त भावसे प्राइमरीके शिक्षककी तरह बोला।

"टैल—समझे ?"

"जी।"

"गुप्ता—समझे ?"

"जी।"

"आई—समझे ?"

"जी।"

"एम—समझे ?"

"जी।".

"गोइंग—समझे ?"

"जी।"

"टैल गुप्ता आई एम गोइंग (गुप्तासे कहो मैं जा रहा हूँ)।" कह कर वह गहरी आत्मीयतासे मुसकरा उठा।

वह मुसकराहट आज भी मेरे दिलमें तड़प उठती है। वह सचमुच

इनसान था. उस प्रकारका इनसान जिनके मस्तिष्ककी अधिकतर मिट्टी विधाता हृदयमें रख देते हैं।

अफसरकी सलामकी भूख प्रसिद्ध है, पर उसने कभी ही किसीको पहले नमस्कार करनेका अवसर दिया होगा। हर किसीको दूरसे देखते ही वह मुसकरा कर पुकार उठता, "गुड मार्निङ्ग !"

वह अपने अफसरोंसे भी लड़ पड़ता था। वह अपने विरोधियोंको पहचानता था। वह किसीके आगे झुकता नहीं था। वैसे वह अभिमानी भी कम न था। लेकिन उसकी यह भावना स्वाभिमान कही जा सकती है, घमण्ड नहीं। इसी स्वाभिमानके कारण एक दिन उसने इस्तीफा दे दिया और इंग्लैंड चला गया।

वह १९३८ की बात है। तब १९३५ के कानूनके अधीन भारतमें नये चुनाव हुए थे और प्रान्तोंमें प्रजातन्त्री सरकारें बनी थीं। वह हिन्दुस्तानी वज़ीरोंसे डरता था या नफरत करता था, यह बात नहीं। उसने साफ-साफ कहा था कि वह हिन्दुस्तानियोंके शासनमें काम कर सकता है। वह गाँधीजीका बड़ा प्रशंसक था। लेकिन नेहरू उसे पसन्द नहीं थे।

हिन्दू धर्मके बारेमें भी उसने माँगकर पुस्तकें पढ़ी थीं। वह परिग्रह और त्यागमें अधिक विश्वास नहीं करता था, तो भी वह भारतीय संस्कृतिका प्रशंसक था और भारतीयोंका भी। नगरमें अनेक हिन्दू-मुसल-मान उसके मित्र थे।

कई कारणोंसे नये कण्ट्रेक्टके बारेमें सर छोटूरामसे उसका समझौता न हो सका। वह लम्बी कहानी है। शब्दोंकी बात उतनी नहीं थी जितनी भावनाओंकी। फिर कहते है कि उसकी पत्नी अधिक दृढ़ थी। उसने मिस्टर स्मिथको इस्तीफा देनेकी राय दी। इस्तीफा पेश हुआ और स्वीकृत भी। उन दिनोंकी उसकी मानसिक स्थितिका मैं साक्षी रहा हूँ। जानेसे लगभग सालभर पूर्व वसन्तोत्सवके अवसरपर भाषण देते हुए वह रो पड़ा था—"अगले साल मैं तुम लोगोंके बीच नहीं रहूँगा।"

शायद वह भावुक था क्योंकि जब उसका इस्तीफा स्वीकृत होनेकी चिट्ठी मैंने उसके सामने रखी तो वह जैसे खो गया हो। वह तब एक डाकबँगलेमें मेजके पास बैठा था। उसने कई क्षण उस खतको देखा, देखता रहा, फिर धीरे-धीरे अस्फुट स्वरमें बोला, "अच्छा हुआ, मैं यही चाहता था''शायद मैं यही चाहता था।"

फिर दृष्टि उठाकर उसने मुझे देखा जैसे मेरी स्वीकृति चाहता हो। पर मैं कुछ भी न कह सका। मैं एक साधारण क्लर्क था और वह आला अफसर। उसे मैं कैसे और क्या कहकर सान्त्वना देता! और शायद वह भी सोच रहा था कि आखिर सांत्वना क्यों हूँ—अंग्रेज है, इसे जाना ही चाहिए।

लेकिन कुछ भी हो, उसके जानेका दिन पास आने लगा। वह ऊपरसे बड़ा शान्त रहता था, लेकिन जबतब उसके आँसू उसे धोखा दे ही जाते थे और तब लम्बी बाँहोंकी कोहनियोंसे उन्हें पोछता हुआ वह मुसकरानेकी चेष्टा किया करता था। उस क्षण उसका वह लम्बा और लाल मुख, हास्य और रुदनके उस अप्रत्याशित सम्मिलनमें, नववधूके मुखकी तरह दीप्त हो उठता था और फिर दाँतोंसे होंठ काटता हुआ तेजीसे वह वहाँसे चला जाता था।

लेकिन जब मेम साहब चली गई तब वह अपनेको न रोक सका। बस कुछ दिन ही तो शेष थे और इन दिनों वह खूब फूट-फूट कर रो लेना चाहता था। जब कोई उससे मिलने आता तो वह हाथ मिलाता-मिलाता काँपने लगता और यदि वह आगन्तुक उसका काफी परिचित होता तो वह उसकी छातीसे चिपट कर फफक उठता था।

जानेसे पहले वह अपना सामान बेच रहा था। हिसाब सबका उसके पास था। पैसे भी उसने सबसे लिये पर जैसे यह सब यन्त्रवत् होता था। उसका बस होता तो वह सब कुछ लुटा देता। वैसे लुटानेका अवसर वह चूका भी नहीं। नौकरोंको बख्शीश न जाने कितनी बार मिली। बहुतोंको

वह भेंट दे गया। मेरे पास भी उसकी स्मृति है। कई बार उसने मुझे कई चीजें दीं—घड़ी इत्यादि। पर आज मेरे पास उसकी दी हुई सुन्दर मेज और खुदी हुई आलमारी मुझे उन दिनोंकी याद दिलाती रहती है जब वह बस आँसुओंका समूहमात्र रह गया था।

जानेसे दो दिन पूर्व तो वह पागल-सा लगता था। उसकी आँखें सूज गयी थीं। वह हर किसीसे, यहाँतक कि दीवारोंसे भी चिपट-चिपटकर रोता था। वह आगंतुकोंसे एक पूरा वाक्य नहीं बोल पाता था। वे सब उसे सान्त्वना देते। खुशामदियोंकी तरह प्रशस्ति करने पर वह रोता रहता। आखिरी दिन सारा फार्म और नगर वहाँ उमड़ आया था। वह एक लोकप्रिय अफसर था। वह अन्तिम क्षणतक काम करता रहा। जब मैंने आखिरी बार उसका हिसाब उसे समझाया, आखिरी बार रुपये उसे दिये, तो उसने जोरसे अपना सिर मेजपर दे मारा और बार-बार मारता रहा, जोर-जोरसे रोता रहा, चीखता रहा, मैं तब स्वयं अपने बसमें नहीं था। सब बुत बने खड़े थे।

और फिर वह क्षण आया जब उसे मोटरमें बैठना था। बाहर सैकड़ों लोग जमा थे। वह नीचे उतरा। उसने अपने बँगलेको देखा—अन्तिम बार देखा। उस दृष्टिमें शायद हसरत थी, शायद करुणा भी थी, पर ऊपरसे वह शान्त था, उसने एक-एकसे हाथ मिलाना शुरू किया, लेकिन दो मिनिट बाद ही क्या देखता हूँ कि वह रोता हुआ तेजीसे मोटरकी ओर भाग रहा है। वह मोटरमें बैठा और उसके साथीने तेजीसे मोटरको दिल्लीकी सड़ककी ओर घुमा दिया।

यह सब क्षणके बहुत छोटे भागमें हो गया। जब सब लोग जागे तो वहाँ बस धूल और गन्ध फैली हुई थी। लोग तरह-तरहकी बातें करते चले गये। कोई विशेष बात नहीं थी—एक अफसर गया था और वह भी अंग्रेज। थोड़ी देर चर्चा हुई और फिर सब कुछ समाप्त हो गया। लेकिन आज सोलह वर्ष बाद मैं जब उस दृश्यकी याद करता हूँ तो अपने आपसे

पूछ उठता हूँ : "क्या वह केवल एक अंग्रेज अफसर ही था ? क्या वह केवल एक साम्राज्यवादी ही था ? क्या वह इनसान नहीं था ?"

मुझे लगता है वह सब कुछ था, लेकिन इस सब कुछके साथ वह इनसान भी था—ऐसा इनसान जिसकी इनसानियत रूपांतरित होकर प्रगतिकी राहकी नींव बनती है।

दिसम्बर १९५३



: ४ :

मेरी माँ

मेरी माँ अत्यन्त रूपवती थीं। बाहर-भीतर, उनका सम्पूर्ण व्यक्तित्व जीवनभर इसी रूपके प्रकाशमें जगमगाता रहा। क्या यह आश्चर्यजनक बात नहीं है कि मेरा और उनका स्मरण योग्य प्रथम परिचय इसीलिए स्मरणीय है कि वे मुझे अत्यन्त सुन्दर लगी थीं और उन्होंने मुझे बहुत ही प्यार किया था। तब परिवारमें एक नव-शिशुके आगमनका उत्सव मनाया जा रहा था। उस हुलहुल ध्वनिमें वे तभी मायकेसे आकर बैठी थीं। समाचार पाते ही मैं दौड़ा हुआ आया और चाहा कि सामने जाकर उनके पैरोंसे लिपट जाऊँ पर हुआ यह कि न जाने किस लाज या मानके मारे मैं उनके पीछे ही खड़ा रह गया। तब वह आँगनमें एक पीढ़ेपर बैठी थीं। सहसा मेरी एक दादीने मुझे देखा और माँसे कहा, 'अरी बहू! तेरा बेटा खड़ा है।"

"कहाँ?" कहकर मेरी माँ तुरन्त मुड़ी और अपनी दाहिनी भुजामें लपेट कर मुझे गोदमें खींच लिया। फिर देरतक उसी भुजासे मुझे भींचती रही और बोलती रहीं। उन्होंने क्या कहा, कुछ याद नहीं, क्योंकि मैं तो तब उनके मुखको ही देखता रह गया था—अहा! क्या रूप था वह? दूध-सा धुला, उषाकी लालिमासे प्रकाशवान, गौरवर्ण, विश्वासमयी मृदु-

प्लावित नयन···। यदि मैं चितेरा होता तो उस रूपको चित्रित करके अमर हो जाता।···

यह सब तो आज सोच पाया हूँ। उस दिन तो बस यही लगता था कि इस गोदमें पड़ा रहूँ और निरन्तर इस मुखको निहारता रहूँ··· निहारता ही रहूँ।

तब मैं आठके आसपास रहा हूँगा। उससे पहलेकी माँ मुझे याद न हो सो बात नहीं। याद है कि एक बार उन्होंने सौरिसे निकलते ही नये शिशुको मेरी गोदमें लिटा दिया था और मेरा शिशु-मन सोच-सोचकर परेशान हो रहा था कि आखिर यह प्यारा-प्यारा नन्हा-सा शिशु कहाँसे आ गया? मुझे सन् १९१९ के उस भयानक फ्लूकी भी याद है जिसने घरके घर वीरान कर दिये थे। हमारे १३-१४ प्राणियोंके घरमेंसे तीनको छोड़ कर शेष सभी शैयापर थे। उनमेंसे तीन परिजन तो सदा-सदाके लिए हमसे बिछुड़ भी गये। उन्हींमें थी मेरी एकमात्र तीन वर्षीया बहन मिन्नी। मुझे ठीक याद है कि मेरी माँ कभी तो ज्वरके कारण 'हाय-हाय' करती हुई शैयापर जा लेटती, कभी रोगियोंके लिए पथ्य तैयार करती रसोईमें दिखाई देती और कभी डबडबाये नयनोंमें मिन्नीकी छवि सँजोये. भीगे स्वरमें मुझ नादानसे पूछती, 'मिन्नी कहाँ गई, तुझे कुछ पता है?'

लेकिन इन सब अवसरोंपर शायद मैं उनका मुख नहीं देख पाता था पर मुझे मालूम है और मैंने सुना है कि वह मुख सदा ही एक दिव्य-आलोकसे आलोकित रहा। लगभग ग्यारह वर्षकी आयुमें उनका विवाह हुआ और तब मुँह देखने आने वालियोंमेंसे एकने मेरे दादासे कहा था, 'मुरब्बी! तेरे घरमें तो उड़दोंमें चावल आ गया।'

क्या अनुपम उपमा है। पवित्र चावल शब्दका प्रयोग करके उस महिलाने केवल मेरी माँके रूपकी ही महिमा नहीं गाई बल्कि यह भविष्यवाणी भी की, 'मुरब्बी, तेरे घरमें धर्मप्राणा अन्नपूर्णा आ गई है। देवता अब यहाँ निवास करेंगे।'

आज सोचता हूँ कि क्या यह भविष्यवाणी सत्य नहीं हो गई है?

मेरी धर्म-भीरु माँ जीवनभर अन्नपूर्णा नहीं बनी रही ? वह बड़े घरकी बेटी थी। प्यारमें पली और दुलारमें बड़ी हुई। घरमें दास दासी, द्वारपर किटन, सब-कुछ झकाझक। लेकिन ससुरालमें सब-कुछ विपरीत। न केवल रसोई-घरमें ही खटना पड़ता था बल्कि पशुओंकी देखभाल भी स्वयं ही करनी पड़ती थी, गोबरतक सहेजना पड़ता था। लेकिन मेरी माँने इस सारे कामको इस सहज भावसे अपना लिया मानो जन्म-जन्मसे यही करती आ रही हो। तब देखनेवालोंने दाँतों तले अँगुली दबा ली। उस कस्बेमें ही नहीं बल्कि आसपासके गाँवोंतकमें उनकी यह सौरभ-गाथा मुखरित हो उठी। बत्तीस वर्ष बाद उनकी एक भतीजीका विवाह पास ही के एक गाँवमें हुआ। तब उसे निःसंकोच काम करते देखकर गाँवकी प्रौढ़ाएँ कह उठी थीं, 'आखिर है तो उसी बुआकी भतीजी।'

जब-जब वह मायके जाती तो पास-पड़ौसमें धूम मच जाती। नई-पुरानी सब मिलने दौड़ आती। मेरी माँकी सहेलियाँ भी तो बहुत थीं। एक बारकी याद आती है मैं बहुत छोटा था, माँ पड़ौसकी एक वृद्धा ब्राह्मणीसे मिलने गई। वह गद्गद हो उठी, बोली, 'माधो, (उनका नाम महादेवी था प्यारसे उन्हें सब माधो कहते थे) जैसा तैने माँ-बापका नाम उजाला, भगवान् करे सब बेटियाँ उजालें।' माँके चले जानेपर भी वह मुझे लक्ष्य करके न जाने क्या-क्या कहती रही। इतना ही याद रह गया है—'बापके घर जिसने पलंगसे नीचे पैर नहीं दिया वह ससुरालमें गोबर पाथे! धन्न है उसको, धन्न है उसकी जायाको!'

मेरी माँको काम करनेमें बड़ा रस आता था। इसमें वह अपने-परायेका भी भेद नहीं करती थीं। उन्होंने केवल अपने पाँच बेटोंको ही नहीं पाला-पोसा, चाचाके दो मातृहीन बालकोंकी भी वे माँ बनीं, आखिरी दमतक बनी रहीं। हम सब भाइयोंके मित्रोंकी माँ बन जाना तो उन्होंने अपना जन्मसिद्ध अधिकार मान लिया था। एक मित्रका विवाह हुआ। घरमें कोई नहीं था। मेरी माँ तुरन्त वहाँ गई और सासकी तरह नववधूका स्वागत किया। एक और मित्रकी पत्नी माँ बनने वाली थी, देख-भाल

करने वाला अपना कोई नहीं था, लेकिन जब समय आया तो मेरी माँ वहाँ उपस्थित थीं। न जाने कितनोंको वह अस्पताल ले गईं। न जाने कितनी रातें उन्होंने आँखोंमें काट दीं। वह बैठे-बैठे सो लेती थीं और नर्सों तथा डाक्टरोंको इस प्रकार अपना बना लेती थीं कि वे सब स्वयं भी चकित हो उठते थे। उनकी आत्मीयता कभी भी अस्थायी नहीं हुई। एक बार जिसे अपना लिया बस अपना ही लिया।

मेरे कई मित्र महीनों मेरे पास रह जाते, वह उनके सुख-दुःखकी साथिन बन जाती थीं, उन्हें अपना बनानेके लिए उनकी हो रहतीं। एक बार स्वर्गीय डॉ० सुधीन्द्र मेरे पास ठहरे हुए थे। मस्त जीव, कामपर लगे तो बस कामके ही हो गये, बाहर गये तो लौटनेका कोई समय नहीं। एक दिन घर लौटे तो रातका डेढ़ बज चुका था। सब सो गये थे। उन्होंने भी चाहा कि चुपकेसे आकर अपनी खाटपर लेट जाएँ। आहट पाकर कोई जाग न जाय इसलिए वह पंजोंके बल चल रहे थे, लेकिन जैसे ही वह कमरेके द्वारपर आये तो मेरी माँ बोल उठी, 'आ गये!'

एकाएक वह सिहर उठे, मुँहसे शब्द न निकला। माँ उठती हुई बोली, 'कपड़े उतारो, मैं खाना लाती हूँ।'

सुधीन्द्र और भी हतप्रभ, 'खाना! इस समय?'

'हाँ, हाँ, रखा है।'

वह जान गई थी कि सुधीन्द्रको किसी भी वक्त खाना खानेमें आपत्ति नहीं हो सकती सो उन्हें खाना खिलाकर वह दो बजे लेटीं। वैसे भी खाना-पिलाना मेरी माँको अच्छा लगता था। बचपनमें पैंठके दिनों मैंने उनको रातों जाग कर ग्राहकोंके लिए भोजन तैयार करते देखा है। मेरे एक शिक्षक जबतब हाथसे भोजन बनानेकी टाल कर देते थे, केवल मेरी माँके भरोसे। इधर भी जैसे-जैसे चन्द्रमाकी कलाओंकी भाँति हमारे मित्रोंकी संख्या बढ़ती गई वैसे-वैसे समुद्रकी भाँति उनका आनन्द उमड़ता गया।

मेरी माँ हमारे परिवारमें रूप और उदार हृदय ही लेकर नहीं आई

थी; शिक्षाका श्रीगणेश भी उन्होंने ही किया था। गाँवके व्यापारी लोग तब अधिकतर मुण्डी ही पढ़ते थे लेकिन मेरे पिताको जब इस बातका पता लगा कि 'मेरी माँ' हिन्दी-उर्दू जानती है तो वे उसी क्षण पण्डितके पास पहुँचे, कहा, 'मुझे एक हफ्तेमें हिन्दी पढ़ानी होगी', और उन्होंने पढ़ी।

दहेजमें मेरी माँ पुस्तकोंसे भरा एक सन्दूक भी लाई थी। जब पढ़ने योग्य हुए तब बड़े गर्वसे हमने उस सम्पत्तिपर डाका डाला और उसे पढ़ते-पढ़ते नष्ट कर दिया। क्या यह कहना अतिशयोक्ति होगी कि आज मैं जो कुछ हूँ एकमात्र उसी डाकेके कारण हूँ! गाँवमें शिक्षाका कोई प्रबन्ध नहीं था। लेकिन हमारा भविष्य बने, इसलिए उस स्नेहमयीने हमें अपनेसे अलग करके अपने मायके पढ़नेके लिए भेजा। पहली बार पंजाब जानेके समयका वह दृश्य आज भी आँखोंमें उभर-उभर आता है जैसे युद्धकालमें कोई गर्वीली माँ छातीमें स्नेहका तूफ़ान भरे अपने लाडलोंको युद्धभूमिमें भेजती हो। सारा कुटुम्ब जुड़ आया था और मेरी माँ थी कि कभी तो यात्राका सामान सहेजती, कभी डबडबाई आँखों और रुँधे कण्ठसे मेरी दादीसे कहती, 'पेटमें दो अक्षर पड़ गये तो कुछ बन जायगा इसीलिए बनवास दे रही हूँ।'

हमारे रूढ़िग्रस्त परिवारमें सबसे पहले परदेका परित्याग करनेका गौरव भी मेरी माँको ही प्राप्त हुआ। मेरी दादीके वैकुण्ठवासके बाद बाबाको किसी प्रकारकी असुविधा न हो इसलिए मेरी माँने स्वेच्छासे परदेका त्याग कर दिया था। लेकिन इससे भी बड़ा त्याग मेरी माँने तब किया जब किन्हीं कारणोंसे हमारे परिवारका व्यापार नष्ट हो गया। उस समय कुटुम्बकी लाजका प्रश्न था। तुरन्त मेरी माँने अपना सारा जेवर बेच डाला। एक क्षणके लिए सोचातक नहीं, फिर कभी बनवाया भी नहीं। मृत्युके समय उसके पास अपना कहनेको न एक आभूषण था, न एक पैसा, न एक मूल्यवान कपड़ा। वह सदा यही कहा करती थी, 'पैसेके कारण मेरा काम कभी नहीं अटकेगा।'

और उनका कोई काम कभी नहीं अटका. उनके जीते जी नहीं अटका, उनकी मृत्युके बाद भी नहीं अटका। क्या एक हिन्दू नारीके लिए इससे बड़ा कोई सौभाग्य हो सकता है कि उसकी मृत्यु-शय्याके आस-पास उसके पति, पुत्र, पुत्र-वधुएँ, पौत्र-पौत्रियोंके अतिरिक्त भाई-भतीजे और उनकी सन्तानें, ननद और उनका परिवार, सभी उपस्थित हों। हिन्दू-परिवारमें बहुधा मामियाँ अच्छे शब्दोंमें याद नहीं की जातीं परन्तु 'मेरी माँ' ने मामीके रूपमें भी अन्नपूर्णाका ही विरुद पाया था। मेरी माँ इतनी स्नेहमयी थी कि उनकी पुत्रवधुएँ उनकी ताड़ना खाकर भी उनसे दूर न हो पाईं।

मेरी माँ कभी किसीसे लड़ी-झगड़ी न हो ऐसी अमानवी नहीं थी लेकिन इसका कारण हमेशा ऊपरी होता था। वह क्रुद्ध भी होती थी परन्तु वह क्रोध उनके अन्तरसे नहीं उपजता था, इसी कारण वह सब दिखावटी, सब क्षणिक होता था। जैसे बचपनमें जब कभी वह हमें मारनेको उठती तो बड़े जोरसे दाँत पीसती, सिरसे ऊपर हाथ ले जाकर मुक्का तानती, पर जब वह हमारे शरीरसे स्पर्श करता तो ऐसे लगता जैसे फूल पेड़से टूटकर धरतीपर गिर पड़ा हो। मेरी दूसरी दादियाँ-चाचियाँ सदा उनकी हँसी उड़ाती थीं, 'कोई औलादको मारे तो इसकी तरह। आवाज होती है पर चोट नहीं लगती।' चौदह वर्षके पंजाब-प्रवासमें जिस महिलासे उनका बहुत ही घनिष्ठ सम्बन्ध रहा वह नगरभरमें भीषण युद्ध-प्रिय प्रसिद्ध थी। लेकिन वही मेरी माँके लिए जान देनेको सन्नद्ध रहती। कहा करती, 'जिठानी! तेरे पास आकर जी जाऊँ।' दुनिया-भरकी आँखोंमें धूल झोंकनेवाला गोपी चपरासी भी यही कहा करता था, 'बिसनुकी माँ। तेरे लिए जान भी हाजिर है।'

यह सब इसी कारण था कि वह सदा सहज भावसे देकर पानेमें विश्वास करती थी, पानेकी इन्हें इच्छा न हो, ऐसी वीतराग वह नहीं थी। पर निश्चय ही पानेकी चिन्ता भी उन्हें नहीं थी।

मेरी माँका लालन-पालन कट्टर रूढ़िवादी वातावरणमें हुआ था।

जहाँतक उनके अपने व्यक्तित्वका सम्बन्ध है उन्होंने उन रूढ़ियोंको मृत्युके अन्ततक निभाया। कुल रीतियोंका उन्होंने सदा उत्साहके साथ पालन किया पर दूसरेके मार्गकी वे कभी बाधा नहीं बनीं। उनके भाई आर्यसमाजी हैं। उनके बेटे हैं अराजकवादी या समन्वयवादी पर इस कारण उन्हें कभी असुविधा हुई हो ऐसा स्मरण नहीं आता। वह अकसर पिताजीको समझाया करती थीं, 'जमाना एकसा नहीं रहता। बेटे चलते हैं, चलने दो। तुम क्यों बोलते हो? अपना ध्यान रखो बस, और वह भी इतना क्या कि…।'

वह कभी-कभी उत्तेजित भी हो जाती थीं। कभी-कभी वह बेटोंको डाँट भी देतीं लेकिन अनजाने ही अपने उदार हृदयके कारण वे समयके साथ बराबर आगे बढ़ती चली गईं। दूसरे महायुद्धसे पूर्व वे पोते-पोतियोंके लिए लालायित रहती थीं। कोई उन्हें टोकता तो वे निश्वास छोड़ कर कह देतीं, 'इनके खान्दानमें बड़ी उमरमें बच्चे होते हैं।' स्वयं वे २६ वर्षकी आयुमें पहली बार माँ बनी थीं। लेकिन युद्धके बाद उसी मेरी माँसे मैंने सुना, 'ना बेटा, अब और बच्चे नहीं चाहिए। जो हैं वे ही फूले फलें।' वे कह कर ही रह गई हों, सो बात नहीं। उन्होंने अपनी दो पुत्र-वधुओं-का परिवार-नियोजनकी दृष्टिसे अस्पताल जाकर आपरेशन कराया। मुझे याद है, आपरेशनके बाद उन्होंने मेरी पत्नीसे हँसते हुए कहा था, 'कोई बात नहीं, तेरे सुखके लिए ही कराया है।'

मेरी माँने अपने इन्हीं गुणोंके कारण छ बेटोंके परिवारको एक सूत्रमें बाँधे रखा। सर्वस्व दान करके ढहते हुए परिवारका पुनर्निर्माण किया, उसे रूढ़िवादकी चारदिवारीसे बाहर निकलनेकी शक्ति प्रदान की। उसे अपने बेटोंतक सीमित न रखकर निरन्तर बड़ा करनेकी चेष्टा की। वास्तवमें मेरी माँ ऋग्वेदकी नारीकी तरह घरकी रानी बन कर रहीं। उस युगमें पत्नियोंको पीटनेकी परिपाटी थी लेकिन हमारे परिवारमें मेरी माँ ही ऐसी नारी थीं जिसपर उसके पतिने कभी हाथ नहीं उठाया। मेरी एक दादी कहा करती थीं, 'जैसा महादेईने सुख भोगा वैसा सब भोगें।'

मेरी माँ जीवनभर सुखी ही रही। लेकिन शारीरिक रोगोंके कारण अन्तिम दिनोंमें उन्हें काफी कष्ट हुआ, और इसी कारण उन्हें जीवनमें कुछ आसक्ति भी हो गई थी, पर उनके आत्मिक गुणोंपर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। एक दिन मुझे बुलाकर बोलीं, 'तेरी जेबमें पैसे हैं?'

'हाँ हैं, बोल।'

'एक रुपया रामनाथको दे दे। इसने मेरी बड़ी सेवा की है।'

एक बार नहीं, उन्होंने अनेक बार ऐसा किया। रामनाथ हमारा सेवक है, उससे वह बड़ा स्नेह करती थीं। अचेतन अवस्थामें भी उसे नहीं भूलीं। उसी अवस्थामें एक दिन भाई साहबने उनसे कहा, 'माँ! तू जा रही है, बच्चोंको बुला लेता हूँ। तू उनके सिरपर हाथ रख कर आशीर्वाद दे दे!'

मेरी माँने कहा, 'नहीं।'

सुनकर सबको अचरज हुआ। भाई साहबने पूछा, 'क्यों, आशीर्वाद नहीं दोगी?"

तब मेरी माँ बोली, धीरे-धीरे, 'आशीर्वाद मनसे दिया जाता है। दिखावा तो ढोंग है।'

अन्तिम समय वह पूर्ण अनासक्त थी। मुक्तिसे कुछ पूर्व मैंने पूछा, 'अम्मा! क्या हाल है?'

हाथ हिलाकर वह बोली, 'अब तो बस जाना है।'

भाईने कहा, 'तो राम-राम कहो।'

माँने राम-राम कहनेकी चेष्टा की। ओठ हिले, लेकिन आवाज नहीं निकली। कुछ देर ओठोंमें गति रही, फिर वे भी शान्त होने लगे। मैं साक्षी हूँ, उनके नेत्र प्रायः बन्द थे, पर सहसा शतदल कमलकी पंखुरियों-की भाँति वे खुलते चले गये। पूरे खुल जानेपर वे फिर आधे बन्द हो गये। भौतिक शरीरकी यही अन्तिम क्रिया थी। उसके पश्चात् वह पूर्ण मुक्त हो गई।

वह चिरनिद्रामें सो गई, पर मेरा मन आज भी विश्वास नहीं कर

जहाँतक उनके अपने व्यक्तित्वका सम्बन्ध है उन्होंने उन रूढ़ियोंको मृत्युके क्षणतक निभाया। कुल रीतियोंका उन्होंने सदा उत्साहके साथ पालन किया पर दूसरेके मार्गकी वे कभी बाधा नहीं बनीं। उनके भाई आर्यसमाजी हैं। उनके बेटे हैं अराजकवादी या समन्वयवादी पर इस कारण उन्हें कभी असुविधा हुई हो ऐसा स्मरण नहीं आता। वह अकसर पिताजीको समझाया करती थीं, 'जमाना एकसा नहीं रहता। बेटे चलते हैं, चलने दो। तुम क्यों बोलते हो? अपना ध्यान रखो बस, और वह भी इतना क्या कि···।'

वह कभी-कभी उत्तेजित भी हो जाती थीं। कभी-कभी वह बेटोंको डांट भी देतीं लेकिन अनजाने ही अपने उदार हृदयके कारण वे समयके साथ बराबर आगे बढ़ती चली गईं। दूसरे महायुद्धसे पूर्व वे पोते-पोतियोंके लिए लालायित रहती थीं। कोई उन्हें टोकता तो वे निश्वास छोड़ कर कह देतीं, 'इनके खान्दानमें बड़ी उमरमें बच्चे होते हैं।' स्वयं वे २६ वर्षकी आयुमें पहली बार माँ बनी थीं। लेकिन युद्धके बाद उसी मेरी माँसे मैंने सुना, 'ना बेटा, अब और बच्चे नहीं चाहिए। जो हैं वे ही फूले फलें।' वे कह कर ही रह गई हों, सो बात नहीं। उन्होंने अपनी दो पुत्र-वधुओं-का परिवार-नियोजनकी दृष्टिसे अस्पताल जाकर आपरेशन कराया। मुझे याद है, आपरेशनके बाद उन्होंने मेरी पत्नीसे हँसते हुए कहा था, 'कोई बात नहीं, तेरे सुखके लिए ही कराया है।'

मेरी माँने अपने इन्हीं गुणोंके कारण छ बेटोंके परिवारको एक सूत्रमें बाँधे रखा। सर्वस्व दान करके ढहते हुए परिवारका पुनर्निर्माण किया, उसे रूढ़िवादकी चारदिवारीसे बाहर निकलनेकी शक्ति प्रदान की। उसे अपने बेटोंतक सीमित न रखकर निरन्तर बड़ा करनेकी चेष्टा की। वास्तवमें मेरी माँ ऋग्वेदकी नारीकी तरह घरकी रानी बन कर रही। उस युगमें पत्नियोंको पीटनेकी परिपाटी थी लेकिन हमारे परिवारमें मेरी माँ ही ऐसी नारी थीं जिसपर उसके पतिने कभी हाथ नहीं उठाया। मेरी एक दादी कहा करती थीं, 'जैसा महादेईने सुख भोगा वैसा सब भोगें।'

मेरी माँ जीवनभर सुखी ही रहीं। लेकिन शारीरिक रोगोंके कारण अन्तिम दिनोंमें उन्हें काफी कष्ट हुआ, और इसी कारण उन्हें जीवनमें कुछ आसक्ति भी हो गई थी, पर उनके आत्मिक गुणोंपर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। एक दिन मुझे बुलाकर बोलीं, 'तेरी जेबमें पैसे हैं?'

'हाँ हैं, बोल।'

'एक रुपया रामनाथको दे दे। इसने मेरी बड़ी सेवा की है।'

एक बार नहीं, उन्होंने अनेक बार ऐसा किया। रामनाथ हमारा सेवक है, उससे वह बड़ा स्नेह करती थीं। अचेतन अवस्थामें भी उसे नहीं भूलीं। उसी अवस्थामें एक दिन भाई साहबने उनसे कहा, 'माँ! तू जा रही है, बच्चोंको बुला लेता हूँ। तू उनके सिरपर हाथ रख कर आशीर्वाद दे दे!'

मेरी माँने कहा, 'नहीं।'

सुनकर सबको अचरज हुआ। भाई साहबने पूछा, 'क्यों, आशीर्वाद नहीं दोगी?"

तब मेरी माँ बोली, धीरे-धीरे, 'आशीर्वाद मनसे दिया जाता है। दिखावा तो ढोंग है।'

अन्तिम समय वह पूर्ण अनासक्त थी। मुक्तिसे कुछ पूर्व मैंने पूछा, 'अम्मा! क्या हाल है?'

हाथ हिलाकर वह बोली, 'अब तो बस जाना है।'

भाईने कहा, 'तो राम-राम कहो।'

माँने राम-राम कहनेकी चेष्टा की। ओठ हिले, लेकिन आवाज नहीं निकली। कुछ देर ओठोंमें गति रही, फिर वे भी शान्त होने लगे। मैं साक्षी हूँ, उनके नेत्र प्रायः बन्द थे, पर सहसा शतदल कमलकी पंखुरियोंकी भाँति वे खुलते चले गये। पूरे खुल जानेपर वे फिर आधे बन्द हो गये। भौतिक शरीरकी यही अन्तिम क्रिया थी। उसके पश्चात् वह पूर्ण मुक्त हो गई।

वह चिरनिद्रामें सो गई, पर मेरा मन आज भी विश्वास नहीं कर

पा रहा है कि वह नहीं है। यह लेख लिखते-लिखते किसी तथ्यके बारेमें शंका हुई तो तुरन्त मनमें उठा, 'चलूँ, माँसे पूछ देखूँ।'

जिसने जीवनभर संघर्ष किया, जो सदा विजयी हुई, वह मेरी माँ क्या मृत्युसे हार गई। अत्यन्त रूपवती, विशालहृदया, जिनके प्रेमके वटवृक्षके नीचे न जाने किस-किसने आश्रय-लाभ किया, वह मेरी माँ क्या मृत्युसे हार गई। नहीं, मृत्युने उन्हें पराजित नहीं किया है, अमर किया है। मेरी माँ अपने परिवारमें सदा जीवित रहेगी और उस परिवारका क्षेत्र बहुत-बहुत विशाल है।

२ सितम्बर, १९५७

यशपाल बोले, 'देखते हो डाढ़ी-मूँछ साफ है।'

'तो...।'

'अरे यह डाढ़ी-मूँछ रखते थे। अब साफ करा दी है।'

तब जिसे देखो वही उनकी डाढ़ी-मूँछकी चर्चा करता था—पहले कैसे लगते थे और अब कैसे लगते हैं इत्यादि इत्यादि। उस सम्मेलनमें बहुत-सी बातें याद करने लायक थीं। महामना मालवीय, डा० श्यामसुन्दरदास, महाकवि निराला, पं० माखनलाल चतुर्वेदी, पं० सुदर्शन आदि अनेक धुरन्धरोंको मैंने पहली बार वहाँ देखा और संस्मरणीय रूपमें देखा लेकिन प्रथम दृष्टिमें मेरी कल्पनासे जितनी दूर गुप्तजी थे उतनी दूर और कोई नहीं था। यह दूसरी बात है कि समयके साथ-साथ उनकी दृष्टि मेरे मनमें खुबती चली गई और उनके नेत्रमें साधनाका जो तेज था उसने मेरी शंकाओंको धो दिया। मुझे विश्वास हो गया कि 'हिन्दी-प्रवेशिका'में 'किसान'पर जो कविता बचपनमें मैंने पढ़ी थी उसके प्रणेता यही हैं।

याद नहीं पड़ता कि प्रणाम करनेके अतिरिक्त और कोई बात उनसे हुई हो। हाँ, दूरसे मैंने उन्हें खूब पैनी दृष्टिसे देखा। पाससे देखनेका अवसर मिला जनवरी १९४१ में। तीर्थयात्रीके रूपमें घूमते हुए एक दिन पाया कि 'चिरगाँव' पहुँच गया हूँ और देवताकी मूर्तिके स्थानपर परिवारका कोई बड़ा आ बैठा है। मुश्किलसे चौबीस घण्टे वहाँ रुका हूँगा। रातको दो बजे स्टेशनपर उतरा था। सूर्योदय तक वहीं रुका रहा, फिर भाईको वहीं छोड़कर सकुचता-सिमटता उनको घरकी ओर चला। बहुत पूछना नहीं पड़ा। ग्रामीण राजपथसे होकर शीघ्र ही उनके विशाल भवनके द्वारपर जा पहुँचा। कहीं कोई रोक-टोक नहीं, सब ओर मुक्त स्वागत, झिझक खुल गई और अन्दर चौकमें जाकर क्या देखा कि दाहिनी ओर एक चबूतरेपर आग सेकते और बातें करते कुछ लोग बैठे हैं। उन्हींसे श्री सियारामशरण गुप्तके बारेमें पूछा। उनसे मैं दिल्लीमें काफी परिचित हो चुका था। उस मण्डलीमें मैंने 'दद्दा'(मैथिली-शरणजी अपने परिवारमें इसी नामसे जाने जाते हैं) को तुरन्त पहचान

लिया। यद्यपि तब न बनारसवाली वेषभूषा थी और न वह वातावरण, फिर भी उनके नेत्रोंका तेज उनके ही घरमें उनको छिपा न सका।

उसके बाद वह दिन कैसे बीता उसका विस्तृत वर्णन करना मानो उस स्मृतिकी पवित्रताको धूमिल करना है। उस दिन (१२ जनवरी) की डायरीमें मैंने लिखा है—'वे सब लोग सज्जन जान पड़े। बड़ा अच्छा आतिथ्य रहा। दिनभर बातें करते रहे। श्री मैथिलीशरणजी बहुत ही चपल और चतुर लगे। बच्चों जैसी चपलता उनमें है···इन लोगोंमें अपूर्व कौटुम्बिक प्रेम देखा। सबने अपने-अपने काम बाँट रखे हैं। गुप्तजी-को मशीनसे भी बड़ा प्रेम है। संध्याको भोजन कर फिर बातें करते रहे। १०-३० पर सोने लेटे।···'

डायरीकी यह भाषा शिष्टाचारके बन्धनसे मुक्त है। इसीलिए स्पष्ट भी है। साहित्यिकोंके बारेमें आम लोगोंके मनमें यह धारणा बन जाती है कि वे असाधारण होते हैं, पर दद्दा मुझे बिलकुल साधारण लगे। एक स्नेही परिजनकी आकुलताके साथ-साथ एक कुशल व्यापारीकी बौद्धिक सजगता भी मैंने उनमें पाई। निश्छलता इतनी कि मुक्त कण्ठसे हँसते देर न लगती। वहीं बैठकमें फर्शपर सब बैठते, चाय पीते, गप्पें मारते और वहीं सो रहते। वहींपर वे लिखते-पढ़ते भी। मैं उस कमरेको देखता, उसके सामानको देखता, उन्हें देखता, अपनेको देखता और याद आ जाती मुझे ताल्सताय और शेक्सपियर आदिके भवनोंकी [illegible] भारत-भारतीके स्वरकारका यह कमरा भी राष्ट्रका तीर्थ [illegible] और लोग अपूर्व श्रद्धा, अपूर्व चावसे इसके सामानको देखेंगे···।

न जाने किस स्रोतसे उनकी अपनी रचनाओंकी च[illegible] पड़ी थी। मैंने कहा, 'लोग आपकी भाषाकी बड़ी आलोचना करते हैं। [illegible] बड़ा अटपटापन रहता है।'

कह कर मेरी दृष्टि एकबारगी उनके मुखपर चली गई। वह किसी पुस्तकके पन्ने पलट रहे थे। पासमें श्री सियारामशरण गुप्त तथा डा० मोतीचन्द बैठे थे। उन्होंने सहज भावसे सियारामशरणजीकी ओर देखकर

कहा, 'हाँ, यह बात तो मुझे भी लगी है कि इधर हम भाषापर अधिक ध्यान नहीं देते !'

ठीक-ठीक शब्द याद नहीं पर भाव यही था। देखता रह गया, कोई कटुता नहीं, कोई गर्वजन्य उपेक्षा नहीं। यूँ इसके दूसरे अर्थ भी लिये जा सकते हैं पर जिस सहज-भावसे उन्होंने उत्तर दिया था, वह आज भी नहीं भूलता। यही नहीं, उस रात हमारी चर्चा साहित्यके क्षेत्रसे होकर पशु-पालन और एक विशेष प्रकारकी मिट्टीसे बननेवाले मकानोंपर आ गई थी। मैं तब हिसारके सरकारी फार्मपर काम करता था। उन्होंने मकान बनानेकी कलामें विशेष रुचि ली और उसका पूरा साहित्य मँगा भेजा...।

यूँ साहित्यके अमर साधकोंमें आई० सी० एस० से लेकर झल्ली ढोनेवालेतक हैं पर मशीन, व्यापार और साहित्यमें एक समान रस लेनेवाले कम ही हैं। चिरगाँवमें आटेकी मशीन ही नहीं देखी, गुप्तजीको उसे ठीक करते भी देखा। वस्तुतः दद्दा जिस बातको स्वीकार करते हैं सम्पूर्ण रूपमें स्वीकार करते हैं। राष्ट्रपतिने जब उन्हें राज्यसभाका सदस्य नामजद किया तो शायद उन्हें कुछ संकोच हुआ हो पर एक बार जब उन्होंने उसे स्वीकार कर लिया तो शासनके इस ढाँचेमें वही रस लिया जो साहित्यके प्रणयनमें लेते रहे हैं। उस दिन इसी बातपर चर्चा चली तो राज्यसभामें उनके साथी श्रद्धेय पं० बनारसीदास चतुर्वेदी बोले, 'हम कांग्रेस दलके अनुशासनमें हैं फिर भी बहुत कम अधिवेशनमें जाते हैं परन्तु दद्दापर किसी दलका अंकुश न होनेपर भी वह नियमसे राज्यसभाकी सभी बैठकोंमें शामिल होते हैं और उसकी प्रत्येक गतिविधिमें पूरा रस लेते हैं। इतना रस लेते हैं कि सदस्य इन्हें कांग्रेस दलका 'गैर सरकारी ह्विप' मानने लगे हैं।'

लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि उन्होंने अपनी स्वतन्त्रताका बलिदान कर दिया है। सरकारकी उचित आलोचना करनेसे चूकते नहीं। गत वर्षके बजटपर उन्होंने जो पद्यात्मक भाषण दिया था वह उनकी स्पष्टवादिता और विनोदप्रियताका एक साथ प्रमाण है।

दद्दा स्वभावसे संकोची और प्रवास-भीरु हैं। दिल्लीमें आकर उन्होंने सभाओं और भोजोंसे बचनेकी पूरी कोशिश की है। 'शनिवार समाज'-की ओरसे जो स्वागत संसद्के साहित्यिक सदस्योंका हुआ था वह शायद पहला सम्मेलन था जिसमें वह शामिल हुए थे। मुझे याद है एक बार तो उन्होंने स्पष्ट इनकार कर दिया था पर डा० नगेन्द्र और मेरे आग्रह-पर उन्हें आना ही पड़ा। अपनी स्वाभाविक अत्यन्त-अहिंसक-विनम्रतासे उन्होंने कहा, 'अरे, हम तो कहीं जाते नहीं···।'

मैंने कहा, 'दद्दा ! यह सब हिन्दीके लिए किया है आप न आये तो···।'

यह चुनौती थी पर एक विनम्र सेवककी। उन्होंने तुरन्त कहा, 'मैं आऊँगा।'

और आये ही नहीं उन्होंने कविता पाठ भी किया। इतने उत्साहसे किया कि उस गर्मीमें परेशान जनता खिल-खिल उठी। बादमें अनेक संस्थाओंने चाहा कि 'दद्दा' उनके यहाँ पधारें। कुछ नवयुवक मुझे भी सिफारिशके लिए ले गये। दद्दा उसी अहिंसक विनम्रतासे बोले, 'आप हमारे स्वभावको जानते हैं पर आप कहेंगे तो चले जायेंगे···।

मैंने एकदम कहा, 'न दद्दा। हम आग्रह नहीं करेंगे।'

मैंने देखा वह इस बातसे प्रसन्न हुए। मैं उनको दोष नहीं दे सकता। उनके पास ऐसे-ऐसे नवोदित साहित्यकार आते रहे हैं जो अपनी पूरी पुस्तक उन्हें सुनानेके लिए अपनी सेवाएँ अर्पित करनेमें संकोच नहीं करते। मैं बहुत ही कम उनसे मिलने गया हूँ क्योंकि मैं जानता हूँ मेरे जैसे मिलनेवाले असंख्य हैं पर वह एक हैं। यूँ मुझपर उनकी कृपा है। उनकी अनेक पुस्तकें उन्हींकी कृपासे मेरे पास हैं। मेरे गरीबखाने पर भी वह जूठन गिरा चुके हैं। हृदयरोगसे पीड़ित रहनेपर भी वह जीना चढ़कर आये थे पर इन बातोंकी चर्चा ही क्या। उनका स्वभाव ही ऐसा प्रेमिल है। जब-जब मैं उनके पास गया हूँ तो उन्होंने कहा,

कहा, 'हाँ, यह बात तो मुझे भी लगी है कि इधर हम भाषापर अधिक ध्यान नहीं देते !'

ठीक-ठीक शब्द याद नहीं पर भाव यही था। देखता रह गया, कोई कटुता नहीं, कोई गर्वजन्य उपेक्षा नहीं। यूँ इसके दूसरे अर्थ भी लिये जा सकते हैं पर जिस सहज-भावसे उन्होंने उत्तर दिया था, वह आज भी नहीं भूलता। यही नहीं, उस रात हमारी चर्चा साहित्यके क्षेत्रसे होकर पशु-पालन और एक विशेष प्रकारकी मिट्टीसे बननेवाले मकानोंपर आ गई थी। मैं तब हिसारके सरकारी फार्मपर काम करता था। उन्होंने मकान बनानेकी कलामें विशेष रुचि ली और उसका पूरा साहित्य मँगा भेजा···।

यूँ साहित्यके अमर साधकोंमें आई० सी० एस० से लेकर झल्ली ढोनेवालेतक हैं पर मशीन, व्यापार और साहित्यमें एक समान रस लेनेवाले कम ही हैं। चिरगाँवमें आटेकी मशीन ही नहीं देखी, गुप्तजीको उसे ठीक करते भी देखा। वस्तुतः दद्दा जिस बातको स्वीकार करते हैं सम्पूर्ण रूपमें स्वीकार करते हैं। राष्ट्रपतिने जब उन्हें राज्यसभाका सदस्य नामजद किया तो शायद उन्हें कुछ संकोच हुआ हो पर एक बार जब उन्होंने उसे स्वीकार कर लिया तो शासनके इस ढाँचेमें वही रस लिया जो साहित्यके प्रणयनमें लेते रहे हैं। उस दिन इसी बातपर चर्चा चली तो राज्यसभामें उनके साथी श्रद्धेय पं० बनारसीदास चतुर्वेदी बोले, 'हम कांग्रेस दलके अनुशासनमें हैं फिर भी बहुत कम अधिवेशनमें जाते हैं परन्तु दद्दापर किसी दलका अंकुश न होनेपर भी वह नियमसे राज्यसभाकी सभी बैठकोंमें शामिल होते हैं और उसकी प्रत्येक गतिविधिमें पूरा रस लेते हैं। इतना रस लेते हैं कि सदस्य इन्हें कांग्रेस दलका 'गैर सरकारी ह्विप' मानने लगे हैं।'

लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि उन्होंने अपनी स्वतन्त्रताका बलिदान कर दिया है। सरकारकी उचित आलोचना करनेसे चूकते नहीं। गत वर्षके बजटपर उन्होंने जो पद्यात्मक भाषण दिया था वह उनकी स्पष्टवादिता और विनोदप्रियताका एक साथ प्रमाण है।

दद्दा स्वभावसे संकोची और प्रवास-भीरु हैं। दिल्लीमें आकर उन्होंने सभाओं और भोजोंसे बचनेकी पूरी कोशिश की है। 'शनिवार समाज'-की ओरसे जो स्वागत संसद्‌के साहित्यिक सदस्योंका हुआ था वह शायद पहला सम्मेलन था जिसमें वह शामिल हुए थे। मुझे याद है एक बार तो उन्होंने स्पष्ट इनकार कर दिया था पर डा० नगेन्द्र और मेरे आग्रह-पर उन्हें आना ही पड़ा। अपनी स्वाभाविक अत्यन्त-अहिंसक-विनम्रतासे उन्होंने कहा, 'अरे, हम तो कहीं जाते नहीं'''।'

मैंने कहा, 'दद्दा ! यह सब हिन्दीके लिए किया है आप न आये तो'''।'

यह चुनौती थी पर एक विनम्र सेवककी। उन्होंने तुरन्त कहा, 'मैं आऊँगा।'

और आये ही नहीं उन्होंने कविता पाठ भी किया। इतने उत्साहसे किया कि उस गर्मीमें परेशान जनता खिल-खिल उठी। बादमें अनेक संस्थाओंने चाहा कि 'दद्दा' उनके यहाँ पधारें। कुछ नवयुवक मुझे भी सिफारिशके लिए ले गये। दद्दा उसी अहिंसक विनम्रतासे बोले, 'आप हमारे स्वभावको जानते हैं पर आप कहेंगे तो चले जायेंगे'''।

मैंने एकदम कहा, 'न दद्दा। हम आग्रह नहीं करेंगे।'

मैंने देखा वह इस बातसे प्रसन्न हुए। मैं उनको दोष नहीं दे सकता। उनके पास ऐसे-ऐसे नवोदित साहित्यकार आते रहे हैं जो अपनी पूरी पुस्तक उन्हें सुनानेके लिए अपनी सेवाएँ अर्पित करनेमें संकोच नहीं करते। मैं बहुत ही कम उनसे मिलने गया हूँ क्योंकि मैं जानता हूँ मेरे जैसे मिलनेवाले असंख्य हैं पर वह एक हैं। यूँ मुझपर उनकी कृपा है। उनकी अनेक पुस्तकें उन्हींकी कृपासे मेरे पास हैं। मेरे गरीबखाने पर भी वह जूठन गिरा चुके हैं। हृदयरोगसे पीड़ित रहनेपर भी वह जीना चढ़कर आये थे पर इन बातोंकी चर्चा ही क्या। उनका स्वभाव ही ऐसा प्रेमिल है। जब-जब मैं उनके पास गया हूँ तो उन्होंने कहा,

'बनारसीदासजीसे मिलकर जाना।' एक बार कहकर रह गये हों सो नहीं, चलते समय विशेष रूपसे उसकी स्मृति दिलाई है।

कुछ भी हो, मेरा ऐसा अनुभव है कि दिल्ली प्रवासमें उन्होंने कुछ खोया नहीं, पाया है। जिन सभाओंमें वह सम्मिलित हुए हैं वहाँ मैंने उनमें यौवनका ओज देखा है, उनकी कविताका नया स्वर सुना है। एक सभामें उर्दूके एक प्रसिद्ध ओजस्वी कविके साथ 'दद्दा'का भी सम्मान हुआ था। उपस्थित व्यक्तियोंमें उर्दूदाँ अधिक थे। उर्दू कविकी कविताओंने वह समा बाँधा कि सभा फड़क-फड़क उठी। मेरे पास हिन्दीके एक लेखक बैठे थे, बोले, 'मैथिलीशरणजी इनका क्या मुकाबला करेंगे। कहाँ यौवनका उद्दाम तेज, कहाँ ढलते सूर्यकी पस्ती।' लेकिन जब ढलते सूर्यने बोलना शुरू किया तो लगा जैसे वह पश्चिमसे पूर्वकी ओर मुड़ गया है। देर तक वह सभा-स्थल वाह, वाह, और 'क्या कहने'की ध्वनिसे गुंजायमान होता रहा। मित्र गद्‌गद हो उठे, 'आज गुप्तजीने हिन्दीकी लाज रख ली।'

कहा जाता है कि उनकी व्यापार-बुद्धि बड़ी तीक्ष्ण है। उनकी विनम्रता एक व्यापारीकी विनम्रता है पर मैं न व्यापारी हूँ न खरीदार। मैं इसकी कसौटी नहीं बन सकता लेकिन व्यवहारमें सजग होना न असभ्यता है और न अशिष्टता। असभ्यता और अशिष्टता है तो दंभमें है, घमण्डमें है। दद्दा सजग व्यापारी हैं तो साहित्य-देवताके अखण्डनिष्ठ आराधक भी हैं। आधी शताब्दी तक उन्होंने हिन्दी साहित्यको सँवारा-सँजोया ही नहीं, उसका निर्माण भी किया है। उनकी 'भारत-भारती'ने राष्ट्रमें प्राण फूँके हैं। उनके 'साकेत'ने रामकथाको नया रूप दे दिया है। उनकी 'यशोधरा'ने, उनके 'काबा-कर्बला'ने अखण्ड मानवताके पौधेको साहित्यके अमृतसे सींचा है। उनकी विनम्रता बड़ेकी विनम्रता है। (जो जितना बड़ा होता है उतना ही विनम्र होता है) इसीलिए उस विनम्रतामें शिशुका भोलापन और नारीका स्नेह दोनों विद्यमान है, इस मात्रामें विद्यमान है कि वह खुशामदकी सीमा तक जा पहुँचती है। लेकिन वह जितने विनयी

उतने ही स्वाभिमानी भी हैं। दम्भी नहीं, स्वाभिमानी। और जो
ाभिमानी होता है वह दूसरेकी पूरी प्रतिष्ठा करता है, झुककर भी प्रतिष्ठा
रता है। बड़ेका झुकना बड़ेका गौरव है।

मैथिलीशरणगुप्त सचमुच दद्दा हैं। 'दद्दा'में एक ओर स्नेह और
ात्मीयता है तो दूसरी ओर गौरव और बड़प्पन भी है। वह बड़प्पन
सकी नींवमें स्नेहसे छलछलाता मानव-हृदय है, और है दूसरेको समझ-
नेकी दृष्टि। जो दूसरेको समझता है उससे बड़ा कौन होता है।

२२ फरवरी, १९५५



: ६ :

शमशू मिस्त्री

जिस समय मुश्ताक मेरे कमरेमें आया तो वह कुछ घबराया-सा था। आते ही उसने कहा, 'विष्णुजी, तुमने सुना ताऊ चल बसे।'

मैं फाइलमें टैग लगा रहा था, उसे उसी तरह छोड़कर अचरजसे उसे देखने लगा। वही फिर बोला, 'हाँ! उनका भतीजा आया है। आज सबेरे उनका इन्तकाल हो गया?'

हतप्रभ मैंने कहा, 'सच।'

'हाँ।'

मेरे दिलको धक्का लगा। मैं जानता था कि वे बीमार हैं। पैर सूज गये हैं। बचनेकी आशा कम है पर मौत इतनी जल्दी आ जायेगी ऐसी आशा नहीं थी! बात यह है कि मरनेकी अवस्था होनेपर भी स्वार्थवश मनुष्य ऐसी दुराशा नहीं करता। मुझे भी इसी कारण उनके मरनेकी आशा नहीं थी। मैं एक बार उनसे मिलना चाहता था। अब वह चाह केवल बीती बात बनकर रह गई। मैं कुछ नहीं कह सका। बैठा शून्य में ताकता रहा। मुश्ताक फिर बोला, 'कहते हैं रात उन्हें पता लग गया

था कि वे अब नहीं बचेंगे। जो कुछ उनके पास था उसमेंसे कफ़नको देकर जो बाकी रहा वह सब कुनबेवालोंमें बाँट दिया।'

लेकिन मैंने कहा, 'उन्होंने तो भतीजेको गोद ले लिया था।'

'हाँ! वह उनका वारिस है लेकिन दूसरे भाईके जो लावारिस बच्चे थे उन्हें भी उन्होंने भुलाया नहीं। जब सब कुछ बाँट चुके तो नमाज पढ़ी। फिर दो जानू बैठकर खुदासे दुआ माँगने लगे। जब थक गये तो लेटनेकी ख्वाहिश जाहिर की। और लेटनेके बाद चन्द लमहोंमें कलमा पढ़ते-पढ़ते उन्होंने इस दुनियाको छोड़ दिया।' मेरा दिल भरा आ रहा था। मैंने कहा, 'सचमुच वे बड़े नेकदिल थे।'

मुश्ताक मुसकराया, 'और खुशदिल भी। उनके साथ जितना मजाक हम करते थे उतना क्या कोई सह सकता है?'

कहते-कहते मुश्ताककी आँखें आप ही आप मेरे कमरेमें लगे हुए लम्बे-लम्बे दानवी लोहेके रैकोंपर जा पड़ीं। रैक उन्होंने ही बनाये थे और इन्हीं रैकोंपर उनका काला और गन्दा तौलिया हम अकसर फेंक दिया करते थे और तब वे जल्दी-जल्दी बनावटी क्रोध प्रकट करते हुए कहते, 'अरे! अरे! बाबू बिसनू···बाबू मुश्ताक···क्या करते हैं? नहीं, नहीं··· मैं साब बहादुरसे कहूँगा···नहीं, नहीं बिसनू···।'

मैं अकड़ता, 'तो इतना गन्दा तौलिया लेकर फिर दफ्तरमें आओगे?

'नहीं!'

'खाओ कसम।'

'खुदाकी कसम···बिसनू! मैं गरीब आदमी हूँ···।'

मैं तौलिया उतार देता कि पीछेसे आकर मुश्ताक उसे फिर खींच लेता, 'जी! ये गरीब हैं। कंजूस, मक्खीचूस! जोड़-जोड़कर तिजोरी भर रहे हैं। न आस न औलाद; न खाते हैं न पीते हैं।'

शमशू मिस्त्री तब अपनी लोहेकी लम्बी छड़ी जिसे उन्होंने स्वयं ही बनाया था, लेकर मुश्ताकके साथ चूहे-बिल्लीका खेल खेलते। आवाज तेज होती और बड़े बाबू अपने कमरेसे चिल्लाते, क्या शोर मचाया है?

शर्म नहीं आती. दफ्तर है यह।' मुश्ताक हाँफता-हाँफता कहता, 'बाबूजी ! ताऊ हैं।'

बड़े बाबू चिढ़ते, 'ताऊ ! ताऊ कौन ?'

'जी, शमशू मिस्त्री ! देखिये कितना गन्दा तौलिया लेकर दफ्तर आते हैं। शरम नहीं आती इन्हें।'

मिस्त्रीको देखकर बड़े बाबूका क्रोध निमिषमात्रमें काफूर हो जाता। वे मुस्कराने लगते, 'अरे शमशू मिस्त्री हैं।'

शमशू मिस्त्री आगे बढ़ते, 'देखिए बाबूजी ! ये बिसनू और मुश्ताक मुझे तंग करते हैं।'

'ठीक तो है। यह दफ्तर है या घर ! और घरमें भी गन्दा रहना किसने बताया है। मुश्ताक ! इस तौलियेको फेंक दो और अगर कल फिर ये इस तरह आये तो दफ्तरमें मत घुसने दो।'

मुश्ताक तौलिया उठाकर पीछे जंगलेसे फेंक देता। शमशू मिस्त्री चुपचाप छड़ीको फर्शमें गाड़ और उसपर अपना बोझ डाले देखते ही रह जाते। उसके दिलमें क्या उठता कौन जाने पर उसकी छोटी-सी मूछों और मेंहदीसे रची हुई छोटी-सी दाढ़ीमें स्मित हास्यकी हल्की रेखा फैल जाती और वे मुस्कराकर कहते, 'अच्छी बात है। आजसे हम दफ्तर नहीं आयँगे।'

'अच्छा है, बड़ा अच्छा है। तुम्हारे न आनेसे सूरज डूब नहीं जायेगा। उल्टो हमें राहत मिलेगी।'

'अच्छी बात है...।'

यह बात तौलियेतक सीमित रहती थी ऐसा नहीं था। एक दिन मैं कार्यवश दफ्तर देरसे पहुँचा। वहाँ जाकर देखता हूँ, गहरा शोर मचा है। सब लोग खुलकर हँस रहे हैं।

सोचा—आखिर दफ्तरमें इतनी हँसी क्यों ? लेकिन कुछ आगे बढ़ा तो देखा,—शमशू मिस्त्री जल्दी-जल्दी आ रहे हैं। कन्धेपर तौलिया नहीं। कुरता फट गया है। सिरकी टोपी अस्तव्यस्त है और वे काँप रहे हैं।

मैंने अचरजसे कहा, 'अरे मिस्त्री साब ! यह क्या हुआ ।'

मिस्त्री उबल पड़े, 'तुम सब लोग शैतान हो। तुमने मुझे पागल समझ रखा है। मैं आजसे तुम्हारे दफ्तरमें नहीं आऊँगा...।'

आगे उनके शब्द फुसफुसाहटमें खोने लगे। उनके पीछे दफ्तरके लगभग सभी बाबू थे। सभी हँस रहे थे।

परिस्थिति समझकर मैंने कहा, 'आखिर हुआ क्या ?'

'हुआ क्या ? देखते नहीं, मेरा कुर्ता फाड़ डाला है।'

'कुरता', मैंने बनावटी अचरजसे कहा, 'किसने फाड़ा तुम्हारा कुर्ता ?'

'बड़े बाबू ! गुप्ता साहबने।'

'गुप्ताजीने। बड़े अचरजकी बात है! वे तो तुम्हारे बड़े दोस्त हैं।'

'अजी दोस्त...। बस मैं अब यहाँ नहीं आऊँगा। ये लोग मेरी इज्जत उतार लेते हैं।' और वे तेजीसे कम्पाउण्डसे बाहर निकल गये। उनका वह गन्दा काला कुरता दो हिस्सोंमें होकर हवामें उड़ रहा था और वे बड़बड़ा रहे थे, 'इन लोगोंने मुझे क्या समझा है। मैं अब कभी भी इनके पास नहीं आऊँगा, कभी भी नहीं...।'

उनकी मुद्रा और उनके बोलनेका ढंग सब साफ-साफ प्रकट कर रहा था कि वे अब सचमुच दुखी हैं और उनकी प्रतिज्ञा वास्तविक प्रतिज्ञा है। मैंने कहा, 'मुश्ताक ! क्या सचमुच मिस्त्री अब नहीं आयेंगे ?'

'जी', मुश्ताकने व्यंग्य किया, 'वे अब नहीं आयेंगे।'

एकाउण्टैण्ट हँस पड़े, 'अब हमारी लालटैन कौन ठीक करेगा ?'

छोटे बाबू बोले, 'और मेरे तो कई ताले अब भी उनके पास पड़े हैं।'

'कबसे पड़े हैं ?'

'लगभग दो महीनेसे।'

'तो बस सबर कर लीजिये ! ताऊ उन्हें बेचकर खा गये।'

छोटे बाबू हँस पड़े। बोले, 'मुश्ताक ! शमशू मिस्त्री जिस दिन खरीद-फरोख्तकी कला सीख जायँगे उस दिनके बाद उनके दर्शन तुम्हें नहीं मिलेंगे।'

मैंने कहा, 'तो आप समझते हैं कि वे अब यहाँ आयेंगे ?'

'जी हाँ आयेंगे और अभी आयेंगे।'

और उनका कहना ठीक था। मुश्किलसे एक घण्टा बीता होगा शमशू मिस्त्री मेरे सामने आ खड़े हुए। उन्होंने सफेद कुरता पहिना था। टोपी भी सफेद थी और कन्धेपर लाल धुला हुआ तौलिया था। वे सदाकी तरह बड़ी बेतकल्लुफीसे कुरसी सरकाकर बैठ गये। मैंने उन्हें देखा, कुछ अचकचाया, कुछ मुसकराया और फिर सब कुछ अनदेखा करके काममें लग गया। वे कुछ क्षण मुझे देखते रहे फिर बोले धीरेसे, 'बाबू बिसनू। ये सब लोग गन्दे हैं लेकिन···।'

(मैं आज मान लूँ मैं तब भी गम्भीर नहीं था) मैंने कहा, 'ताऊ। मैं तुम्हारा ही हूँ पर मुझे तुम क्या दोगे ?'

वे हँस पड़े, 'गरीब आदमी हूँ। क्या दे सकता हूँ। पर बोलो क्या खाओगे ?'

'बस···।'

'पेड़े, इमरती, लड्डू···?'

मैं हँस पड़ा, 'मिस्त्री साब ! क्या बात है तुम्हें मिठाई बहुत पसन्द है ? बदन भी तुम्हारा लम्बा-चौड़ा है। पिछले मोहर्रमके जुलूसमें तुम्हारी तलवारके हाथ मैंने देखे थे। सच कहता हूँ तुम पिछले जन्ममें मथुराके पण्डा थे।'

मिस्त्री भी खुलकर हँसे। बोले, 'बाबू बिसनू ! हम मुसलमान हैं। अगले-पिछले जन्मका हमें कुछ पता नहीं पर इतना जरूर है कि मथुराके पण्डोंकी बहीमें अभी तक हमारे खानदानका नाम लिखा है। अभी दो-तीन वर्ष पीछे तक पण्डे मेरे पास आते थे। मैं उन्हें दच्छिना दिया करता था···।'

'अब नहीं आते ?'

उसका स्वर कुछ धीमा पड़ गया, 'नहीं बिसून, अब नहीं आते। तुम जानते हो, अब तो मुल्कमें हवा ही दूसरी चल पड़ी है। लड़के-बाले पट-

लिखकर कुछ और सोचने लगे हैं। पिछली बार जब वे आये तो मेरे भतीजोंको बुरा लगा। पण्डे समझदार थे, फिर नहीं आये।'

मैं अचानक कुछ गम्भीर हो उठा, फिर कहा, 'बोलो चिट्ठी किस-किसको लिखनी है?'

और फिर वह कृतज्ञ होकर मेजपर झुककर धीरे-धीरे मुझे समझाने लगे कि किसको क्या लिखना होगा।

लेकिन यह गम्भीरता आप ही आप अचानक किस वक्त समाप्त हो गई कुछ पता नहीं लगा। उनका कुरता फिर मैला हो गया। तौलियोंमें फिर बदबू आने लगी और वे फिर उसी तरह बेंत लिये हमारे पीछे भागने लगे। एक दिन मुश्ताकने उन्हें बहुत तंग किया तो मैंने कहा, 'ताऊ! यह मुश्ताक तुम्हें बहुत तंग करता है।'

'अजी बड़ा बदमाश है।'

मैं बोला, 'मैं तुम्हें इसका एक इलाज बताता हूँ।'

वे बोले, 'क्या?'

'तुम्हारे कोई लड़की है।'

'नहीं।'

'कोई भतीजी, भानजी…।'

'हाँ है! क्यों…?'

'क्यों क्या! उसका इस मुश्ताकसे निकाह पढ़ा दो। कमाऊँ बेटा है, शेख है।'

शमशू मिस्त्री पहिले तो हँसे फिर एकाएक उनकी मुद्रा कठोर हो गई लेकिन वे बोले कुछ नहीं। दूसरे साथी एकाएक हँस पड़े। एक बोला, 'ठीक है ताऊ! फिर तुम्हें चिट्ठी लिखनेके लिए जने-जनेकी खुशामद नहीं करनी पड़ेगी।'

'और मुश्ताक भी इस गुलामीसे बचेगा। उसे गद्दी मिलेगी।'

'और तिजोरी भी!'

'जी हाँ', पहिले साथीने कहा, 'तिजोरीका धन तो ताऊ मरनेपर भी नहीं देंगे।'

बातें आगे बढ़ीं पर मिस्त्री चुप रहे और चुपचाप चले गये परन्तु जैसे ही मैं कामसे छुट्टी पाकर घर पहुँचा तो देखा कि वे मेरी बाट जोहते मेरे घरके बाहर टहल रहे थे! मैं मुस्कराया, 'कहो मिस्त्री साहब यहाँ कैसे ?'

गम्भीर वे बोले, 'तुमसे कुछ बातें करनी हैं।'

वे अक्सर गोपनीय बातोंपर विचार करनेके लिए घर आया करते थे, इसलिए मुझे तनिक भी अचरज नहीं हुआ। मैंने बैठकके किवाड़ खोलकर कहा, 'आओ।'

वे अन्दर आ गये और बोले, 'किवाड़ बन्द कर लो।'

अब मुझे जरा अचरज हुआ। मैंने कहा, 'बहुत वैसी बात है ?'

अब तक उनका गम्भीर चेहरा तनकर कठोर बन चुका था। उनकी वाणीमें तल्खी आ गई थी।

उन्होंने तीव्रतासे कहा, 'बिसनू! मैं तुम्हें अपना आदमी समझता था।'

मैं चौंका, 'तो फिर क्या बात हुई ?'

'बात पूछते हो ? तुमने आज मेरी आबरू मिट्टीमें मिला दी। यह तुम थे। दूसरा होता तो वहीं गलेपर अँगूठा रख देता।

मैंने देखा, उनका वृद्ध शरीर काँपने लगा है। उनके नथुने फड़क रहे हैं, उनकी आँखें आरक्त हैं और उनकी वाणी तीव्र है। मैंने घबराकर कहा, 'मिस्त्री! आखिर बात क्या है, बताओ तो ?'

'तुमने आज दफ्तरमें क्या कहा था ?'

'क्या कहा था···।'

मैं सोचने लगा। क्षणभरमें सब बातें मेरे मस्तिष्कमें स्पष्ट हो गईं। मैं मुस्करा उठा। मैंने कहा, 'तो आप इसलिए इतना तेज हैं। वह सब तो मजाककी बात थी।'

'मजाक !', वह थर्रा उठा, 'तुम इसे मजाक कहते हो। किसीकी बहू-बेटीको लेकर मजाक किया जाता है ?'

मैं अन्दर ही अन्दर घबरा रहा था। (मैं मानता हूँ, वह मेरी गल्ती थी परन्तु) ऊपरसे मैं कुछ क्रुद्ध हो उठा क्योंकि आखिर वह मजाक था और मेरा मंशा हरगिज बुरा न था। मैंने कुछ दृढ़ होकर कहा, 'मिस्त्री साहब? इतना तेज होनेकी जरूरत नहीं। मेरा मंशा बुरा नहीं था। मैंने मजाकमें वह बात कह दी थी और फिर मुश्ताक कोई आवारा लड़का नहीं है। उसका खानदान···।'

'उसका खानदान', वे एकदम बोले, 'वह शेख है और जिनकी कोई जात नहीं होती वे शेख होते हैं। उनका हमारा क्या मुकाबला ?'

'तुम शेख नहीं हो ?'

'नहीं।'

'तो !'

'हम राजपूत हैं। हमें सब कुँवर कहते हैं···!'

मैंने देखा 'कुँवर' शब्द कहते-कहते उनकी छाती उफन उठी है। नेत्र चमक आये हैं। गरदन तन गई है। मैंने उन्हें कभी इस रूपमें नहीं देखा था। मैं जानता था वे वृद्ध होकर भी दुर्बल नहीं हैं, परन्तु उनके निश्छल मनमें इतना गहरा अभिमान है यह कभी मेरे दिमागमें नहीं आया था। मैंने कहा, 'मैं नहीं जानता था तुम कुँवर हो। मुझे दुःख है। मैं माफी चाहता हूँ। मैं समझता था तुम मुसल्मान हो। यह आज जाना कि···।'

वे बीचमें बोल उठे, 'हाँ मुसलमान हूँ पर मुसलान होनेसे क्या किसी-की इज्जत नहीं रहती ?'

मैंने कहा, 'मिस्त्री साहब ! इसमें इज्जतकी बात नहीं है। आपको इतना नाराज नहीं होना चाहिए।'

'नाराज नहीं होना चाहिए ! तुम किसीकी इज्जत उतार लेते हो और उसकी नाराजगी भी बुरी लगती है। और कोई होता तो खून पी जाता।'

मुझे क्रोध आ गया। मैंने कहा 'तो पी क्यों न गये। अब पी सकते हो। मैं तुम्हारे सामने हूँ। करो क्या करते हो। एक जरा सी बात···।'

'जरा सी बात···।'

'हाँ! जरा सी बातको तुम इतना तूल दे रहे हो। तुम्हारे साथ इतना मजाक होता है तो कभी कोई ऐसी-वैसी बात भी हो जाती है। मैं नहीं जानता था कि तुम इतने छोटे दिलके हो। अबसे मेरे पास आनेकी कोई जरूरत नहीं है। जो कुछ हुआ उसके लिए मैं माफी चाहता हूँ और चाहो तो मुकदमा चला सकते हो···।'

मैं तब क्रोध और ग्लानिसे काँपने लगा था। मेरी बोली लड़खड़ा रही थी। उसने मुझे देखा। वह सहसा शिथिल हो चला। बोला, 'अच्छी बात है अब नहीं आऊँगा। तुम्हें अपना समझता था तभी घर आया था नहीं तो···।'

और वाक्य पूरा किये बिना वह शीघ्रतासे दरवाजा खोलकर बाहर निकल गये। मैं क्रुद्ध-दुखित-कम्पित वहीं उसी तरह बैठा रहा। मेरे मस्तिष्कमें न चाहकर भी एक बात उठने लगी—आखिर वह मुसलमान है और सब मुसलमान एकसे होते हैं। एक से···।

और उस घटनाको तीन दिन बीत गये। वे न घरपर आये न दफ्तरमें। मैंने भी सोचा कि 'चलो अच्छा हुआ। हर वक्त तंग करते थे—चिठ्ठी लिख दो। जरा सी बात होती घरपर दौड़े आते—बाबू बिसनू, डिप्टी साहब मेरे भतीजेके पीछे पड़े हैं। बिसनू, यह ओवरसियर बड़ा काँइयाँ है। बिसनू, मुझे तुम्हारा भरोसा है। बिसनू, बड़े बाबूसे कहना रहीमका ख्याल रखें।

और दीवाली आती तो कहते, 'मिठाई नहीं खिलाओगे?'

मैं कहता, 'जी मिठाई खायेंगे आप पर लालटैन तो टूटी पड़ी है।'

'तो भेजी क्यों नहीं?

'भेजी नहीं! कितने भोले बनते हो? पन्द्रह दिनसे दुकानपर पड़ी है।'

वह हँस पड़ते, 'भई, तुमने बताया क्यों नहीं ? आज ही बनाता हूँ।'

'और जाड़ोंके लिए हमाम ?'

'वह भी अगले हफ्ते मिलेगा।'

और फिर हफ्ते बीत जाते। उनका वायदा पूरा नहीं होता। न जाने किस-किसके वायदे उनकी जेबमें पड़े थे। उनकी दुकान स्वयं एक अजायबघरका नमूना थी, एक गन्दे और अस्त-व्यस्त अजायबघरका नमूना। एक कोनेमें धौंकनी थी जिसके पास वह लोहेकी सीटपर बैठते थे। दूसरे कोनेमें टूटे-फूटे, छोटे-बड़े टीनके डब्बे, मशीनके पुरजे, दरांती, खुरपी और न जाने क्या-क्या भरा हुआ था। तीसरेमें सान रखनेकी मशीन थी। चौथेमें लोहेकी कमानियाँ, टुकड़े, और पीतलकी छड़ें। काली दीवारोंपर अजीबो-गरीब पुरजे लटक रहे थे। आलोंमें कील, हथौड़ी, रेती और जम्बूर यूँ ही पड़े थे। कोई ग्राहक आ जाता तो घण्टों वह इन्हीं चीजोंको इधर-से-उधर, उधर-से-इधर करते रहते थे। सब दफ्तरवाले उनसे तंग थे, नाराज थे, पर फिर भी जब तीन दिन बीत गये और वे न आये तो सबको अपने जीवनमें एक अभाव खटकने लगा। बड़े बाबूके वह विशेष चहेते थे, परिवारके सदस्य जैसे। सबसे पहले वही बोले, 'अरे भाई! शमशू मिस्त्री दिखाई नहीं देते। क्या बीमार हैं ?'

मुश्ताकने कहा, 'ताऊके बिना जी नहीं लगता।'

एकाउण्टैण्टने भी कहा, 'हाँ कई दिन हो गये, हँसनेको मन करता है।'

मैंने कहा, 'वे अब नहीं आयँगे।'

'नहीं आयेंगे! क्यों ?'

'क्योंकि उन्हें मजाक बुरा लगता है।'

मुश्ताक बड़े जोरसे हँसा, 'तुम उन्हें नहीं जनाते, विष्णुजी। मैं जानता हूँ, एक बार कबरसे उठकर भी वे हमें हँसानेके लिए आयेंगे।'

मैंने इस बातका जवाब नहीं दिया। सच तो यह है कि मैं इस बातका

विरोध नहीं करना चाहता था। न जाने क्यों मुझे स्वयं ऐसा लग रहा था कि उन्हें आना ही चाहिए। और अचरज वे उसी दिन सन्ध्याको आ पहुँचे। मैंने देखा उन्होंने तंजेबका नया कुरता पहिना है। उसकी बाहोंपर फूलदार बेल टकी है। सिरपर सफेद साफा है। पैरोंमें चारखाने-दार चौड़ी किनारीका लाल तहमद और लाल ही रंगका सलेमशाही जूता है। हाथमें लोहेकी नई सफेद मूठकी बेत है। उनकी डाढ़ी मेंहदीमें ताजा रंगी है और वे मुस्करा रहे हैं। मुझे लगा पतझड़में वसन्त फूट पड़ा है। मैं बरबस मुसकरा उठा परन्तु बोला नहीं। उन्होंने फुर्तीसे एक कागज मेरे सामने रखा और कहा, 'इसपर दस्तखत करो।'

मैंने आश्चर्यसे उस कागजको पढ़ा। उन्होंने अपने भतीजेको गोद लिया था। उसी उत्सवके उपलक्ष्यमें वह भोजका निमन्त्रण था। मैंने एक बार उन्हें देखा और अपने नामके आगे सही कर दी। कागज उठाकर उन्होंने फिर उसी स्वरमें कहा, 'और सुनो। तुम्हें जल्दी पहुँचना होगा, बहुत जल्दी?'

'क्यों?'

'क्यों? जानते नहीं जितने हिन्दू साहबान आयेंगे उनका इन्तजाम तुम्हें ही तो करना होगा।'

और फिर मुड़ते-मुड़ते बोले, 'हाँ! एक बात और है। अगले हफ्ते उसकी शादी है। बारातमें चलना होगा। समझे, तैयार रहना।'

और फिर वे शीघ्रतासे मुड़ चले। मुझसे अब नहीं रह गया। मेरा मन भरा आ रहा था। पुकारकर कहा, 'सुनो तो।'

बोले, 'कहो।'

'उस दिन मेरी गलती थी, मैं माफी चाहता हूँ।'

उस वक्त उनके मुखपर जो भाव आये वे किसी भी चित्रकारको पवित्र धरोहर हो सकते हैं। शब्द उन कोमल भावनाओंको नहीं बाँध सकते। मैंने देखा—वे मेरी बात सुनकर मुसकरा उठे हैं। उस

मुसकराहटमें न गर्व है, न मात्सर्य। गहरा आनन्द है जिसके मधुर आलोकमें उनका मुक्त-हृदय स्पष्ट झलक रहा है।

उन्होंने सीधे स्वभाव कहा, 'गल्ती इन्सानसे होती है पर उसे दिलमें बैठा लेना ठीक नहीं है।'

दूसरा क्षण आया, दफ्तरमें गहरा कोलाहल व्याप्त हो गया। अनेक स्वर एक साथ पुकार उठे, 'लो! ताऊ आ गये। अरे मिर्ज़ा! बुढ़ापेमें यह क्या···?' 'ओ हो! आज न्योता है·····।'—'लो भई मुन्ताक। मुँह धो डालो, तुम रह गये। ताऊने भतीजा गोद लिया है। आज हमारी दावत है' इत्यादि।

क्षणभर तो मैं इस शोरको द्रवित मन सुनता रहा परन्तु दूसरे ही क्षण अपनेको रोकनेमें असमर्थ उस आनन्दमय मुक्त कोलाहलमें सम्मिलित होनेके लिए बाहर चला गया।

अप्रैल १९४६

: ७ :

बाबूराम शर्मा

मैं जानता हूँ कि पं० बाबूराम शर्माके चरित्रमें आपको कोई रुचि नहीं हो सकती। क्योंकि राजनीतिमें दखल रखनेपर भी और बड़े-बड़े राजनीतिज्ञोंसे पाकिस्तानको लेकर पत्र-व्यवहार करनेपर भी वह कोई बड़ा राजनीतिज्ञ नहीं था। उसने कुछ लेख लिखे अवश्य थे, दो-चार अनुवाद भी किये थे, शायद कस्बेके एक-दो पत्रोंका सम्पादन भी किया था और सामाजिक आन्दोलनोंको लेकर वह एक किताब भी लिख रहा था जिसकी भूमिका लिख देनेको वह मुझसे बार-बार आग्रह भी करता था, पर ये बातें न उसे पत्रकार बना सकीं और न लेखक। बहुत दिनोंतक वह हिन्दू महासभाका एक सरगर्म कारकुन बना रहा पर फिर भी वह मुसलिम कल्चरपर फिदा था। अनेक मौलवियों और उल्माओंसे उसका समीपका परिचय था, इसलिए नहीं कि वह उर्दूदाँ था बल्कि उसके दिलमें इस्लाम-के लिए सच्ची मुहब्बत थी। क्या यह अचरजकी बात नहीं है कि हिन्दू महासभामें रहकर कोई आर्यसमाजका विरोध करे और इस्लामकी पैरवी करे, कांग्रेसका निन्दक हो और महीनों कांग्रेसी परिवारमें एक परिजनकी तरह रहता रहे। यह दूसरी बात है कि मरनेसे कुछ दिन पूर्व उसने गाँधीजीको समझ ही नहीं लिया था, स्वीकार भी कर लिया था।

अपनी असामयिक मृत्युके समय वह ३६–३७ वर्षका रहा होगा। मरनेसे पाँच दिन पूर्व उसने मुझे खत लिखा था—चिरपरिचित सुन्दर उर्दू अक्षरमें अपनी पहुँच और मेहतका खत—'यहाँ आकर मुझे ऐसा

मालूम होता है कि जैसे मुझे साँसकी कोई तकलीफ ही नहीं है। वह अभी मेरे पाससे गया था और एक महीनेसे अधिक रहकर गया था। वह दमेका चिर रोगी था और इसी कारण उसका सुन्दर शरीर कभी पनप नहीं पाया। उसी दमेमें अचानक एक दिन उसके दिलकी धड़कन बन्द हो गयी। उसकी छोटी-सी जिन्दगी जैसे आश्चर्यसे भरी हुई थी वैसे ही उसकी मौत भी थी। आठ-नौ दिन बाद कस्बेके एक साप्ताहिक अखबार-मे एक लेखके नीचे सम्पादककी एक टिप्पणीपर अचानक नजर जा पड़ी। उसमें उस लेखके लेखक श्री बाबूराम शर्माकी मौतपर हार्दिक दुःख प्रगट किया गया था। उस नोटमें जिस कस्बेका नाम था उसीमें मेरा मित्र रहता था, पर मैं तो उसके मरनेकी कल्पना कर ही नहीं सकता था। मैंने तुरन्त एक पत्र अपने मित्रको लिखा, 'अरे भाई! तुम्हारे कस्बेमें यह कौन-सा बाबूराम शर्मा था जो मर गया? तुम तो नहीं हो।'

दूसरे ही दिन उसके एक अन्य मित्रका पत्र मुझे मिला। बड़े दुःखके साथ उन्होंने मुझे मेरे मित्र बाबूराम शर्माके देहान्तकी सूचना दी थी। अब कुछ समझनेको शेष नहीं था, पत्र हाथसे छूटकर धरतीपर गिर पड़ा और मेरा दिल हाहाकार कर उठा—तो वह मरनेवाला सचमुच मेरा मित्र था। वह अब नहीं रहा। वह चंचल, दुबला-पतला, मुसकराता मुखड़ा अब दिखाई नहीं देगा। अब कोई घण्टों बैठकर मुझसे बहस नहीं करेगा, झगड़ा नहीं करेगा, प्यार नहीं करेगा। अभी तो हम दोनोंने हरियानेकी यात्राका प्रोग्राम बनाया था। हम उस प्रदेशकी भाषा और संस्कृतिका अध्ययन करना चाहते थे और उपरोक्त अन्तिम पत्रमें उसने लिखा था—"हिसार जाते ही तायल साहबसे फैसलाकुन बात करके आपको लिखूँगा।"

घरमें जिसने भी सुना वही अविश्वाससे सन्न रह गया। वह सदा बीमार रहता था, पर इस तरह एकाएक चल देगा, यह किसीने स्वप्नमें भी नहीं सोचा था। रोगी होकर भी ऐसा चंचल, प्रेमी और विश्वासी था।

इसी विश्वासके कारण मैं ऐसा क्रूर मजाक कर सका कि उसके मरनेकी खबर पढ़कर उसीसे पूछूँ कि यह कौन मर गया है।

वह दुबला-पतला मुख्तसिर-सा गोरे रंगका इन्सान था। उसकी आँखोंमें नीली झलक थी। उसे देखकर अकसर इस शेरकी याद आ जाती थी—

हमको मालूम है बुलबुल तेरी तकीकत
एक मुश्त उस्तख्वा है दो पर लगे हुए

उसका शरीर ऐसा ही था और उसके कण्ठमें बुलबुलका संगीत भले ही न हो, पर उसका दिल एक दोस्तकी मुहब्बतसे लबरेज था। उसके दोस्त असंख्य थे और उसका दोस्त होनेका अर्थ था उसके सब दोस्तोंका दोस्त होना। वह सदा एक-दूसरेका परिचय करानेको आतुर रहता, एक-दूसरेके घर चाय-पार्टी करवाता, एक-दूसरेके विचारोंके आदान-प्रदानका साधन बनता। मेरी कहानियाँ उसने किस-किसको नहीं पढ़वाईं। यही नहीं, पाठकोंकी प्रतिक्रिया मुझतक पहुँचाता और फिर मुझसे बहस करता। मेरी किसी कहानीका किसी अफसरपर इतना प्रभाव पड़ा कि उसने पहाड़पर न जाकर शरणार्थियोंकी सेवा करना स्वीकार किया—यह बात वह मुझे बार-बार बताया करता। उसके मित्रोंमें मजहबी नेता, कांग्रेसी, हिन्दूसभाई, लीगी, छोटे-बड़े शासक, सिनेमा कम्पनीके डिस्ट्रीब्यूटर, एक्टर, इंश्योरेंस एजेण्ट, व्यापारी, म्युनिसिपल कमेटीके सदस्य, लेखक, पत्रकार, स्त्री, पुरुष सभी वर्ग, पेशे और विचारोंके व्यक्ति थे। उन सबसे वह समान भावसे लड़ता, झगड़ता, बहस करता और प्यार करता। वह स्वयं भी सबका प्यारा था। बावजूद इस बातके कि वह इन्श्योरेन्स एजेण्ट था।

हाई स्कूलमें कुल दो साल वह मेरा सहपाठी रहा और उन दो सालोंमें शायद ही हम कभी पास आये हों, पर स्कूल छोड़नेके कई साल बाद

जब अचानक हमारा मिलना हुआ तो ऐसे मिले जैसे युग-युगके बिछुड़े मित्र हों। बार-बार उसने पूछा, 'क्या तुम वही हो जो स्कूलमें अपनेमें निमटे-से, खोये-से, खल्ले-से रहते थे?'

मैंने मुसकराकर जवाब दिया, 'तुम्हें शक है?'

'शक ही तो है। अब कितने साफ रहने लगे हो। लाओ इसी बात-पर तुम्हारा एक चित्र बना दूँ।'

और वह हँस पड़ा। तब उसके हाथमें कुछ चित्र थे और मैं समझ बैठा था कि वह चित्रकार हो गया है। इसीको लेकर उसने व्यंग्य किया था।

व्यंग्य और बहस करनेकी आदत किसी भी तरह मित्रताके लिए अच्छे गुण नहीं कहे जा सकते लेकिन वह बहसके दौरानमें, जब वह खूब तेजीपर होती, व्यंग्यसे हँसता, 'अरे जा ऐसे ही कांग्रेसका पक्ष लेता है। उसने मुल्कको तबाह कर दिया। तेरी बात कौन मानेगा। जो मानता है सारा पागल है, चल उठ, चाय मँगा, बाकी बहस अगली बार होगी...'

और फिर कौन था जो उससे नफरत करता। मैं स्वीकार करूँगा कि कई बार मुझे झुँझलाहट भी हुई थी और मैंने निर्णय किया था कि हम बहस नहीं करेंगे। इसपर वह कहता, 'अच्छा, बहस न करना पर मुझे समझा दो यह बात कैसे हुई? मुझे जानकारी मिलेगी। मेरा ज्ञान बढ़ेगा। तेरे पास इसीलिए तो आता हूँ।'

उसने एक छोटे-से कस्बेके एक गरीब परिवारमें जन्म लिया और मृत्यु तक ऊपर और ऊपर उठनेको फड़फड़ाता रहा पर शारीरिक और आर्थिक कमजोरियोंने उसके पंखोंको काट डाला। उसकी आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी पर उसने कभी भी उसका दुखड़ा नहीं रोया। उसे दुःख एक ही बातका था कि जन-जीवनमें इन्सान नहीं मिलते। हिन्दू महासभा-से निराश होकर अपने अन्तिम दिनोंमें वह कई प्रादेशिक कांग्रेसी नेताओं-

के मसलकमें आता पर हर बार दर्द भरे दिलसे उसने यही लिखा—'प्यारे दोस्त, इन्सान कहीं नहीं है।'

शायद इसीलिए वह इस्लामकी ओर झुका था। एक बार तो ऐसा लगता था कि बस धर्म-परिवर्तनमें कुछ ही दिनकी देर है। मैं मानूँगा तब मुझे पीड़ा हुई थी। आर्यसमाजी था न। मैंने उससे कहा, 'तुम मुसलमान कब बन रहे हो?'

उसने अपना पतला मुख ऊपरको उठाया, उसकी नीली झलकवाली आँखोंमें शरारत भरी मुसकराहट थी। उसने जवाब दिया, 'शायद बहुत जल्दी।'

'कोई लड़की मिल गई?'

'हाँ, ऐसी ही समझो।'

मैं चुप हो गया। मुझे उसके इस पतनपर तेज झुँझलाहट हो रही थी पर वह मेरी झुँझलाहटपर हँस पड़ा, बोला, 'तुम मुझसे नफरत तो नहीं करोगे।'

मैं इस प्रश्नके लिए तैयार नहीं था सो सहसा उत्तर न दे सका। दूसरे क्षण हकलाकर बोला, 'नहीं, नहीं, नफरत क्यों करूँगा। तुम··तुम तो मेरे दोस्त हो।'

वह जोरसे हँसने-हँसने रुक गया। कई क्षण दोनोंमेंसे कोई नहीं बोल सका। उसीने कहा, 'क्या तुम्हें यकीन है कि मैं मुसलमान होनेके लिए ही इस्लामसे इतनी मोहब्बत करता हूँ?'

मैंने कुछ जवाब नहीं दिया। बस करुण नेत्रोंसे देखता ही रह गया। बादमें भी जब कभी मैं उस प्रसंगकी याद करता तो ग्लानिसे भर उठता। बेशक उन दिनोंकी उसकी बहस और मानसिक स्थितिको देखकर कोई भी कह सकता था कि वह धर्म-परिवर्तनका निश्चय कर चुका है पर फिर भी 'कोई भी' और 'मुझमें' अन्तर था। मुझे जानना चाहिए था कि दूसरे किनारेको छूनेकी सीमामें आकर वापिस लौटना उसे आता था, कि वह

'हाय राम, तो तुमने कहा क्यों नहीं। बाहर सोने क्यों चले आये?'

मुस्कराकर परम शान्तिसे उसने जवाब दिया, 'तुमने इतने प्यारसे कहा और मैं मना कर देता'''।'

एकबारगी मुँह दूसरी ओर करके मैं रो पड़ा।'''

अपने फौलादी अहमके नीचे मनुष्य कितना दुर्बल है और क्या वह जानता है कि यही दुर्बलता उसकी सबसे बड़ी शक्ति है।

२६ फरवरी १९५५



: ८ :

चाची

उस दिन अचानक चाचीके दो माह पूर्व स्वर्गवास होनेका समाचार पाकर सन्न रह गया। इतने दिनतक कोई सूचना नहीं, कहीं कोई हलचल नहीं, मेरे आसपास कोई उसे जानतातक नहीं। इस विशाल गुञ्जायमान नगरकी तो चर्चा ही क्या, उसके अपने कस्बेमें जैसे वह अनेकोंमें एक बन गयी। स्वतन्त्रताने भूचालकी तरह देशके एक भागका रूप ही पलट दिया। जैसे पुरानी नदियाँ मिट जाती हैं, नई उभर आती हैं, वैसे ही एक जन-समूह देखते-देखते लुप्त हो गया, दूसरा आ गया, दूसरा जो अपना है पर जिसकी भाषा अलग, वेश-भूषा अलग, खान-पान अलग, नितान्त अपरिचित···। उसी अपरिचयमें चाची ऐसे दूर जा पड़ी जैसे बरसाती नदीके किनारे···।

कुछ अच्छा नहीं लगा। चाचीकी मूर्ति आँखोंमें उतराने लगी। झुर्रियोंसे भरा पतला-लम्बा मुख, कृशकाय, पान खानेसे भद्दे हुए दाँत, लम्बे पर दबे-से नयन, लेकिन चमक इतनी कि बिल्लीको भी झिझकना पड़े। हँसती तो दोहरी हो जाती, हर वक्त खों-खों करती, साँस ऐसे चलता जैसे धौंकनी, पर जब इठलाकर चलती तो आसपासकी हवा साँय-साँय कर उठती और अकसर वह इठलाकर चलती थी। जब बोलने लगती तो

बड़े-बड़े वाक्पटु कान दबाकर रफूचक्कर हो जाते। शब्द मोहल्लेके इस छोरसे उस छोरतक गूँज उठता। वह शासन करना जानती थी। जबतक पति जिया उसपर शासन किया। विधवा हो गयी तो बहुओंपर हुकूमत चलाई। मोहल्लेभरमें उसकी धाक थी। यही नहीं, कस्बेके लोग भी जब उधरसे गुजरते तो चाचीको सिर झुकाकर जाते'''।

पतिको उसने अपने सामने साँस तोड़ते देखा। बेटी मरी, दो-दो जवान बेटे चल बसे! कई पोतोंको उसने स्वयं कफनमें लपेटा। जब कभी उसका पोता अब-तबका होता तो उसके दरवाजेपर एक गम्भीर हलचल मच उठती। झाड़ने-फूँकनेवाले, टोने-टोटकेवाले आते और जाते। कभी-कभी डाक्टर, वैद्यके भी दर्शन हो जाते, पर वह पास बैठी बच्चेको गौरसे देखती रहती, देखती रहती। उसे विश्वास होता कि मौत खाली हाथ नहीं लौटेगी, कभी नहीं लौटेगी। मौतके पदचिह्न जैसे वह पहचानती थी। यही नहीं, जब-जब उसके नये पोतेका जन्म होता तो वह खूब हँस-गाकर, खूब ठाटबाटसे उसका स्वागत करती और जैसे ही मंगल-ध्वनिका स्वर मन्द पड़ता वह माँके पास आती और कहती, 'ना जिठानी! देख लेना, जियेगा नहीं!'

वह आपादमस्तक कुरीतियोंमें डूबी हुई थी। झाड़, फूँक, टोने, टोटके, मान-मनौती, भेंट-पूजा, उसके आसपास यह सब सत्य था। वह ग्रहणका दान लेती थी, काजकी मिठाइयोंसे उसका घर भरा रहता, मृत्यु-कर भी वह वसूल करती थी, लेकिन कभी किसीने 'नीच' कहकर उसका अपमान या उपेक्षा करनेकी धृष्टता की हो सो याद नहीं पड़ता। इसके विपरीत उसके बेटेके ब्याहमें सभी सवर्ण उसके घरमें जीम गये थे। उसकी पक्की तिमंजली हवेली मोहल्लेमें सबसे अलग और सबसे ऊपर चमकती थी। उसके एक ओर अग्निमुख ब्राह्मण-कुलका निवास था। दूसरी ओर एक कुलीन अग्रवाल परिवार बसता था। दोनोंसे वह समय-समयपर सन्धि और विग्रहका खेल खेलती रहती थी। प्यार और शत्रुता दोनोंकी चरम सीमा उसके लिए सहजगम्य थी। प्यार करती तो

सब कुछ लुटा देती, दुश्मनीपर उतरती तो कचहरीतक चली जाती। उसकी आँखोंसे झरनेकी तरह प्यार झरता तो बरसाती नालेकी तरह गालियाँ भी उमड़तीं-उफनतीं···और मजाकपर उतरती तो वह चुटकी लेती कि तिलमिला देती। एक दिन घूँघटकी ओटसे पिताजीकी ओर देखकर मेरी माँसे बोली—'क्यों जिठानी! तू दूहेज़ है!'

माँने कहा, 'नहीं तो।'

'लगे तो ऐसा ही है, जेठ हैं बुड्ढा और तू है नवेली।'

माँ हँस पड़ी, 'अरी इनका उठान ही ऐसा है। मुझसे कुल एक साल बड़े हैं।'

'अच्छा।' वह खिलखिलाई, 'मैं तो समझी थी कि माँ-बापने जिठानीको बुड्ढेसे बाँध दिया है।'

जब मैं उसके सामनेवाले मकानमें आकर बसा तो नियमानुसार मुझे चेतावनी दी गई—'चाचीसे बचकर रहना, करौंदेका झाड़ है।' इस चेतावनीमें कोई अतिशयोक्ति नहीं थी। मैंने स्वयं उसे कई-कई दिन तक लगातार मोरचा लेते देखा था। वह लड़ती थी और खम ठोककर पेशेवर लड़ाकूकी तरह लड़ती थी। इसलिए डर मुझे भी था लेकिन नौ साल तक उसका पड़ोसी बनकर रहनेमें एक बार भी ऐसा अवसर नहीं आया कि वह कभी हमसे रूठी हो। पहले दिन जिस प्रकार हँसती इठलाती हुई आई थी और माँसे घण्टों प्यारसे बातें करती रही थी, अन्तिम दिन भी जब मैं इस्तीफा देकर वहाँसे चला तो वह सकपकाई, घबड़ाई, दौड़ती हुई आई और बोली, 'अब नहीं आयेगा!'

'चाची, क्या करूँ सेहत खराब रहती है।'

'नहीं, नहीं, बेटा। लगी नौकरी नहीं छोड़ा करते।'

'सो तो ठीक है पर चाची···।'

'ना, ना, कुछ दिन रह आ। सेहत ठीक हो जायगी। कहीं ऐसे जाया करते हैं। पगला···।'

और जब मैंने घरमें ताला लगाकर ताली उसे दी तो वह रुँधे कण्ठसे बोली, 'अच्छा, लौट आना। मेरा बेटा देख तो···।'

और फिर आँखोंमें आँसू। देखता रह गया। इन नौ सालोंमें कितना कुछ इस रूढ़ि-जर्जर नारीसे मैंने पाया। जब भी बीमार पड़ता दौड़ी हुई आती और घण्टों बैठी रहती। अकेला होता तो दवादारूका प्रबन्ध करती। पास आकर सोती और पेट पकड़े फिरती। स्वस्थ रहनेपर न आती हो सो बात नहीं। जब-तब आती और डाँटने लगती, 'ऐरे गैर समझ रखा है। मर्द होकर चूल्हा फूके है। अरे तू तो हमारे घरका खा ले है। तू क्यों मरे है। तेरी माँ भगतानी शुक्लानी है। तू तो समाजी है।'

मैं झिझकता, 'चाची बात यह है कि एक दिनका हो तो···'

तुरन्त बात काट देती, 'अरे जा, जा, तू तो एक दिन भी नहीं खाता···।'

और वह घर जाकर ढेर सारा समान ले आती, लड्डू, कचौरी और न जाने क्या-क्या···।

खिलाने-पिलानेमें उसे रस आता था। अपनी बहुओंको वह खूब डाँटती। बेटोंसे पिटवाती। अक्सर रातको बड़ी बहूकी चीख-पुकारसे मोहल्ला काँप उठता लेकिन फिर भी यह प्रसिद्ध था, 'चाचीकी बहुऍं राज करती हैं। सोनेसे पीली हो रही हैं। खाने-पीनेको इतना है कि राजा तरसे।' सामन्तवादी समाजशास्त्रकी जानकार चाची पीटकर भी उन्हें खूब खिलाती थी। खूब मोल-तोल करके वह उन्हें लाई थी। न जाने कितनी बार उसने वह कहानी मुझे सुनाई थी—'अरे बेटा, हम लोगोंमें ऐसा ही है। हजार नाकपर मारे तब फेरे दिये सगीने। क्या करूँ बेटा! यों मेरा बेटा अड़ गया—शादी करूँगा तो इसीसे।'

फिर बड़े जोरसे हँसी, 'तुझे क्या बताऊँ, बेटा। बड़ा है न? उसकी बात बड़ी बेटीसे पक्की करी थी। कुन्दनका डला थी पर काणी थी। बेटा अड़ गया। इससे शादी करेगी तो रेलकी पटरीपर सो जाऊँगा। सो

बेटा पाँच सौ और दिये और इस गोरे भैंसेको लाई। अब तुझसे क्या बताऊँ देखनेकी है बस। न खाकका मऊर, न धेलेका मर्दीका। बेटे जामे तो मर-मर जा है। तभी पिटे हैं…।'

और जो बात हँसीसे शुरू होती उसका अन्त रोनेमें होता लेकिन उसका रोना हमेशा दुःखसे भरा होता हो सो नहीं। कभी वह दर्द भरे गर्वसे भी रो पड़ती और ऐसा तभी होता जब वह अपने स्वर्गीय पतिकी कहानी सुनाती। एक दिन क्रोध और आँसुओंमें रुँधे स्वरमें वह बोली. 'आप तो चला गया पर मुझे डुबा गया, बेटा! इतना पैसा था सब लुटा दिया।'

मैंने पूछा, 'किसे लुटा दिया।'

'जो भी आता, खुशामद करता, उसीको कर्ज दे देता और वापिस न माँगता। मैं पीछे पड़ती तो कह देता, 'अब जाने भी दे, गरीब है, कहाँसे देगा।' मैं कहती, 'ओहो बड़ा गरीब है' तो वह हँस देता, 'माँगने वाले गरीब ही तो हैं।…'

और यहाँ आकर चाचीके आँसू और भी तेज हो जाते। उन्हें आँचलसे सुखाती हुई वह कहती, 'उस जैसा कोई हो तो। लुटा गया। कभी किसीने लेकर दिया ही नहीं। दुकानसे हर कोई पान ले जाता। क्या मजाल जो उस भले मानसने कभी पैसे माँगे हों। जो दिये सो लिये। हिसाबकी बात चली तो हँस दिया।'

फिर मौन, कुछ सुबकियाँ, फिर रुँधा स्वर, 'तभी सारा शहर उसे चाहे था। अरथीके साथ भीड़-सी भीड़ थी। जो सुनता दौड़ा आता, जैसे कोई अपना ही चल बसा हो…।'

लेकिन जिन रुपयोंको वह पतिसे न बचा सकी उन्हें बेटोंसे बचाना भी उसके वशमें नहीं था। यूँ बचानेकी पूरी कोशिश वह करती थी। जानती थी कि उसके पास होंगे तो बेटे छोड़ेंगे नहीं, सो मेरी माँके पास जमा कराती रहती, कहती, 'जिठानी! बेटोंने मुझे खा लिया। पैसा नहीं

और उस कागजको खूब फाड़कर बकती-झकती चाची वहाँसे चली गयी और मैं सोचता बैठा रह गया कि आखिर इस आतंक और अविद्याके साथ इस अनगढ़-अटपटी सहानुभूतिका क्या नाता है। प्रेमका पौधा क्या जहालतकी कीचड़में भी पनपता रहता है।

शरीर जर्जर, सामाजिक चेतना जर्जर, कुरीतियोंमें पनपी, अन्ध-विश्वासोंमें पली, जिसे शत्रु मान लिया, उसे मिटा दिया। जिससे मित्रता की उसे निभा दिया, खरेके साथ खरी, खोटेके साथ खोटी, सदा पराजित और मुसीबतजदाका साथ देनेवाली, सदा-आगे रहनेको, ऊपर रहनेको, कुछ देनेको आतुर, आज भी हँसीसे दोहरी होती या क्रोधसे तमतमाती उसकी काया आँखोंमें उभर आती है तो मनुष्य चरित्रकी अद्‌भुतता मुखर हो उठती है।

: ९ :

भारतका सरदार

गठा हुआ शरीर, लौह रेखाओंसे आच्छादित मुख, दृढ़ताके प्रतीक जबड़े, शत्रुको चुनौती और मित्रको अभय-दान देती हुई तेजस्वी आँखें, स्थिर पग, दाहिने हाथमें कर्म और बायें हाथमें विजय, यह था हमारे सरदारका पार्थिव रूप जो १५ दिसम्बर १९५०को, शुक्रवारके दिन पूर्वार्द्ध-में मृत्युकी शाश्वत शान्तिमें लय हो गया और उसी रात्रिको पवित्र अग्निने उसे अपने अंकमें धारण करके वहीं पहुँचा दिया जहाँसे ७५ वर्ष पूर्व उसका आगमन हुआ था। उस समय उस लौह पुरुषने मानो अपनी कठोरता भूलकर रवि ठाकुरके शब्दोंमें कहा—

'मरण तु आओ-रे आओ;
तुहू मम ताप घुचाओ।'

अयि मृत्यु, तुम आओ, शीघ्र आओ और मेरी विरहाग्निको शान्त करो।

तब वाणी मौनमें विलीन हो गयी। आदि और अन्तका भेद जाता रहा। एक महान् जीवन सम्पूर्ण हो गया। रवि ठाकुरके शब्दोंमें—पतिव्रता विजन रातमें पतिके साथ मिलकर पूर्णकाम हो गयी।

'पटेल' शब्द जिह्वापर आते ही उस योद्धाकी मूर्ति नयनोंमें उभर आती है जिसने उपमन्युके समान कर्त्तव्य-पथपर डटे रहना सीखा था और जिसके लिए डटे रहनेका अर्थ था विजय। वह ज्वालामुखीकी तरह

भस्म करनेकी शक्ति रखते थे। परन्तु उसका विस्फोट उनमें नहीं था। वह प्राय मौन रहते थे, परन्तु उनका मौन उनके कर्ममें सहस्रों जिह्वाओंसे बोलता था। उनके लिए ही मानो महात्मा लूथर सैकड़ों वर्ष पूर्व लिख गये थे—"सच्चे सिपाही और सरदार कभी बढ़-बढ़कर बातें नहीं करते, लेकिन जब बोलते हैं तो काम फतह ही समझिए।"

खेड़ामें सत्याग्रहका घोष उठा। अफ्रीकाके जादूगर गाँधीने पुकारा, "मेरे साथ खेड़ा चलनेको कौन तैयार है?" वल्लभभाईने सबसे आगे बढ़कर कहा, "मैं तैयार हूँ।" नागपुर झण्डा सत्याग्रहके नेता सेठ जमनालाल बजाज जब कृष्ण-मन्दिरमें जा विराजे तब प्रश्न उठा—अब कौन आगे बढ़ेगा? गर्वी गुजरातके गर्वीले सरदारने वहींसे पुकारा, "मैं आ रहा हूँ।" बोरसदमें शासकने जनतापर अनुचित दण्ड लगाया तो सबसे पहले सरदार वहाँ पहुँचे और तबतक नहीं हटे जबतक वह दण्ड रद्द नहीं कर दिया गया। और सरकार ही क्यों, जब प्रकृतिने गुजरातके धैर्यकी परीक्षा लेनेके लिए प्रलयको मृत्युका सन्देश देकर भेजा, तब वह भी इस दृढ़ चट्टानसे टकराकर विमुख लौट गयी। बारडोली तो उनके जीवनमें उस स्वर्गिम मोड़के समान थी, जिसने उनके ही जीवनको आलोकित नहीं किया बल्कि सारे देशके भविष्यको जगमगा दिया। वह प्रकाश देशकी सीमाओंको तोड़कर बाहर भी पहुँचा दिया और अफ्रीकाके टांगानिका प्रदेशमें जब सत्याग्रह करनेका प्रश्न उठा तब आगाखाँ जैसे व्यक्तिकी दृष्टि भारतके सरदारपर ही गयी। वस्तुतः 'सरदार' शब्द ही व्यवस्था, संगठन, सफलता और विजयका प्रतीक बन गया। वह विद्रोह-का प्रतीक बन गया।

सरदार विद्रोही बन गये और वह विद्रोह उन्हें विरासतमें मिला था। उनके पिता भी विद्रोही थे और पिता ही क्यों, उनका शरीर जिस भूमिकी मिट्टीसे बना था, गर्वी गुजरातकी वह भूमि सदा ऐसे विद्रोहियोंको जन्म देती रही है। गीताका विद्रोही गायक योगेश्वर कृष्ण इसी प्रदेशका एक शासक था और इसी प्रदेशमें जन्म लिया था दयानन्दने, जिसने अनुपम

दृढ़ता और निडरताके साथ तत्कालीन बौद्धिक जड़ता और मानसिक दासताके विरुद्ध एकाकी युद्ध-घोषणा की। गाँधीको जन्म देनेका गौरव भी उसी गर्वी गुजरातको मिला था, जिसने प्रेसीडेण्ट पटेलको लोरियाँ सुनाई थीं। उसी भूमिमें लोट-लोटकर बड़ा होनेवाला वह निर्मोही लौह पुरुष उनसे अलग कैसे हो सकता था। इसीलिए उसके रक्तमें ही विद्रोह नहीं था, उसकी श्वासमें, दृष्टिमें, गतिमें, सब जगह विद्रोह ही विद्रोह था! वह विद्रोह शान्त था, पर उसका लक्ष्य था विजय और उसका परिणाम था सफलता! सरदारका ध्येय यह वाक्य था—

शूर संग्रामको देख भागे नहीं,
देख भागे सो शूर नाहीं।

युद्धकालमें उनकी उग्रता, संकटकालमें उनकी कुशलता और चुनौती मिलनपर उनकी उपेक्षापूर्ण दृढ़ता—ये कुछ ऐसे गुण थे जो हर किसीमें नहीं होते। उन्होंने खेड़ा-सत्याग्रहके अवसरपर कहा था, "यदि राज-सत्ता अत्याचारी हो तो किसानका सीधा-सा उत्तर था—जा, जा तेरे जैसे कितने ही राज्य मैंने मिट्टीमें मिलते देखे हैं।" ये एक सैनिकके शब्द थे, उस सैनिकके जिसकी दृष्टि तो वर्तमानपर रहती, पर जो निरन्तर भविष्यका निर्माण करता रहता। इसलिए उसके शब्द सदा सत्य होते। सरदारके शब्द भी सत्य हुए और उन्होंने अत्याचारीके राज्यको मिट्टीमें मिलते देखा।

लेकिन किसीका मिट्टीमें मिला देना यथेष्ट नहीं। सफलता नाशमें नहीं, निर्माणमें है। उस निर्माणमें जो नाशके ऊपर किया जाता है। उसी समय मनुष्यकी शक्ति, सूझ और कार्य-दक्षताकी परीक्षा होती है। भारतके सरदार उस परीक्षामें भी असाधारण रूपसे सफल हुए। जिस सम्पूर्णतासे उन्होंने देशके शत्रुओंका विनाश किया उसी सम्पूर्णतासे उन्होंने क्षत-विक्षत मातृभूमिका नव-निर्माण किया। उन्होंने खण्डित भारतके शत-शत बिखरे अंगोंको जादूगरकी तरह एक सुदृढ़ शरीरमें परिवर्तित कर दिया। भूतपूर्व

देशी राज्योंका एकीकरण एक ऐसी सफलता है जिसका मूल्य आँकते समय भावी इतिहासकार आश्चर्यसे चकित रह जायँगे और इस बारेमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि वे इतिहासके प्रबल प्रवाहको मोड़ देनेवाले इस कार्यको स्वतन्त्रता-प्राप्तिसे भी अधिक महत्त्वपूर्ण मानेंगे।

मनुष्यका सबसे बड़ा शत्रु है 'भय'। सरदार भयके सबसे बड़े शत्रु थे। दो शब्दोंमें उनके जीवनकी सफलताका यही रहस्य था। गोधरामें एक बार प्लेग फूट निकला। अदालतके नाजिरका लड़का उसकी चपेटमें आ गया। निर्मोही सरदारने उसकी सेवा-शुश्रूषा करनेमें कुछ उठा नहीं रखा, पर वह उसे बचा न सके। इसके विपरीत वे स्वयं उसके शिकार हो गये। उनके गाँठ निकल आयी। प्लेगका ज्वर बड़े-बड़े वीरोंको पराजित कर देता, पर हमारे सरदार उसी अवस्थामें पत्नीको लेकर आनन्द पहुँचे। वहाँ पहुँचकर उन्होंने पत्नीसे कहा, "तुम करमसद जाओ, मैं नडियाद जाता हूँ। वहाँ ठीक हो जाऊँगा।" पति प्लेगसे पीड़ित हो और पत्नीसे उसे अलग होनेको कहा जाय, इससे करुण स्थिति और क्या हो सकती है? लेकिन सरदारकी पत्नीको तो सरदारकी पत्नी बनना था। उसे जाना पड़ा। ऐसे निर्मोहीको कोई क्या कहे? और यह एक ही घटना तो नहीं है। उनका सारा जीवन इसी अनासक्त योगका उदाहरण है। उन्हें आसक्ति थी तो केवल कर्त्तव्यसे, विजयसे और सफलतासे। राजनीति ऐसे ही पुरुषोंसे धन्य होती है जो शत्रुके सर्वनाश और मित्रके सर्वोदयको अपनी सफलताकी कसौटी मानते हैं। सरदार उस कसौटीपर सदा खरे उतरे।

ऐसे निर्मोहियोंमें एक और विशेषता होती है। वे समझौता करना नहीं जानते और इसीलिए उनके विरोधी भी कम नहीं होते, पर वे उस विरोधमेंसे ही शक्ति ग्रहण करते हैं और फिर उसका प्रयोग भी उन्हींको कुचलनेमें करते हैं। उनसे युद्ध करना, चाकू और खरबूजेके युद्धके समान होता है। ये निर्मोही इतने ईमानदार और सत्यप्रिय होते हैं कि उनकी ईमानदारी कठोरताकी और सत्यप्रियता कड़वाहटकी पर्यायवाची बन जाती

है। सरदारके साथ यही बात थी। वह जो भीतर थे, वही बाहर थे। उनके अन्दर न शंकाओंका जाल था न असमंजसका कुहासा। वह पारदर्शी दर्पण थे। कुनैनपर मीठा लगानेके पक्षपाती नहीं थे। सर मैनुएल होर आदिको वह सदा 'नंगे हैं' कहा करते थे। एक बार लार्ड मेंकीने गाँधीजीको लेकर एक लेखमें कुछ अंटशंट लिख डाला। गाँधीजीको उस विपर्यासभरे लेखको पढ़कर बहुत दुःख हुआ। उसके उत्तरमें उन्होंने एक लम्बा पत्र लिखवाया। उस समय सरदार पास ही बैठे थे। बोले, "इतना लिख रहे हैं। इसके बजाय यह लिखिए न कि तू सरासर झूठा है।" पर कुछ भी हो, इस तीव्र स्पष्टवादिताने उनके विरोधियोंकी संख्या भले ही बढ़ायी हो, पर सफलताके मार्गपर उन्हें निश्चित रूपसे आगे बढ़ाया था। उन्होंने अपने मित्रोंकी संख्या बढ़ानेके लिए कल्पनाकी उड़ान नहीं भरी, बल्कि कर्मकी लौह-लेखनीसे धरतीकी छातीपर विजयके गीत लिखे।

आजसे लगभग तीन वर्ष पूर्व ऐसे ही एक शीतकालीन शुक्रवारको हमारे बापू अनन्तमें विलीन हो गये थे। सरदार उन्हींके साथ जाना चाहते थे। एक दिन यरवदा जेलमें किसी बातके प्रसंगमें बापूने अपने जानेकी बात कही तब सब-कुछ भूलकर सरदार बोल उठे, "नहीं नहीं, ऐसा नहीं हो सकता, देशको मझधारमें छोड़कर आप कैसे जा सकते हैं? एक दफा जहाजको किनारे पहुँचा दीजिए, फिर जहाँ जाना हो चले जाना। मैं साथ चलूँगा।" एक बार फिर ऐसा ही प्रसंग उपस्थित होनेपर उन्होंने कहा था, "यहाँतक साथ लाये हैं तो क्या इस तरह अकेले चले जा सकेंगे?"

उस निर्मोही लौहपुरुषके फौलादी वक्षःस्थलके पीछे जो धड़कता हृदय था क्या ये शब्द उसकी कोमलताके साक्षी नहीं हैं? लेकिन कर्त्तव्यके निर्मम पथपर कोमलता प्रकट करनेका अवसर ही कहाँ मिलता है? कर्मयोगियोंको अपने आँसू दिखानेका अधिकार नहीं होता। उनका स्नेह तो कर्मकी धारामें समाया रहता है। इसलिए बापूके चले जानेपर भी सरदार-

को उनका काम पूरा करनेको रुकना पड़ा। यह सत्य है कि स्पष्टवादी सरदार विनयका मूल्य नहीं आँक पाये थे। वे सबको कुचलना जानते थे पर इसी कारण वह हृदयहीन नहीं थे। लेकिन राजनीतिमें हृदयका क्या काम! इसलिए वह कभी ऊपर नहीं आता था।

विद्रोहके साथ विनोद भी सरदारके जीवनमें ओत-प्रोत था। वह गम्भीरसे गम्भीर अवसरोंको अपने कटाक्षपूर्ण विनोदसे सजीव बना देते थे। बापू सोडेका बहुत प्रयोग करते थे। प्रत्येक वस्तुमें उसे डालते थे। इसीलिए जब कभी उनके सामने कोई कठिन समस्या उपस्थित होती और सरदारसे सलाह ली जाती तो वह गम्भीर होकर कह देते थे, "सोडा डालो न?" एक भाईने बापूसे पूछा था, "हम तीन मनकी देह लेकर धरतीपर चलते हैं और बहुत-सी चीटियाँ कुचल जाती हैं। यह हिंसा कैसे रुक सकती है?" सरदारने तुरन्त कहा, "इसे लिख दीजिए कि पैर सिरपर रखकर चले।" वैसे सरदारके विनोदमें उनके स्वभावके अनुरूप व्यंग्य अधिक रहता था जो चाकूकी तरह चीरता चला जाता था। उनसे बहुत लोगोंको मतभेद था। उनके प्रिय साथीतक सदा उनसे सहमत नहीं रहे, पर यह सब मानते और स्वीकार करते हैं कि भारतीय एकताका व्यावहारिक पोषक यदि कोई एक व्यक्ति था तो वह हमारे सरदार ही थे। वह स्वातन्त्र्य-संग्रामकी ही शक्ति नहीं थे वरन् उसके एक प्रबल रक्षक भी थे। वह शासन करना जानते थे। वह एक उत्कट व्यवहारवादी, एक महान् सेनापति, एक विलक्षण शिल्पी थे। वह विषाद, सन्ताप और विक्षोभमें उतने ही स्थिर रहते थे जितने सुख और शान्तिमें। यद्यपि आज अग्निने नवभारतके उस महान् निर्माताके फौलादी शरीरको पंचमहाभूतमें मिला दिया तथापि क्या महाबली काल उनके कामोंको और उनकी सफलताओंको रंचमात्र भी धूमिल कर सकेगा? इसके विपरीत १५ दिसम्बर १९५० के सन्ध्याकालीन आकाशमें उनकी भौतिक देहको आत्मसात् करनेके लिए जो लपटें उठी थीं वे ही युग-युगतक उनको आलोक-दीप दिखाती रहेंगी।

उनके जीवनका अन्त नहीं हुआ। वह सम्पूर्ण हुआ और जीवनकी सम्पूर्णताका अर्थ आँसू नहीं कर्म है। ऐसी महान् आत्माके लिए तो यही कहा जा सकता है:—

फटे हुए माताके अंचलको बढ़कर सीनेवाले !
तुझे बधाई है ओ पागल मरकर जीनेवाले !

वह तो अमर है। अपने कर्मोंमें वह सर्वत्र व्याप्त है! फिर मृत्यु कैसी? आना कैसा, जाना कैसा?

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

दिसम्बर १९५०

: १० :

कृपाराम

पं० कृपारामसे मेरी पहली भेंट रुद्रप्रयागके सरकारी डाक-बँगलेपर हुई। उस दिन मौसम सुहावना था। बादल छँट गये थे और आशा होने लगी थी कि अब आगेकी यात्रामें कोई विशेष कष्ट नहीं होगा। वैसे बदरी-केदारकी यात्रा सहज नहीं है। सहजताका अभाव ही उसका एक प्रबल आकर्षण है। रुद्रप्रयागमें इस अभावका अच्छा खासा परिचय मिल गया था। डाक-बँगलेके पास ही मन्दाकिनी और अलकनन्दाका तूफानी संगम होता है। उनका वेग कोई जटाधारी शिव ही सहार सकता है। और उनका स्वर-घोष मुझे विश्वास है कि भौतिक युगके वाहन सैकड़ों इंजन मिलकर भी उसे दबा सकनेमें असमर्थ होंगे। अपने चिर प्रियतम सागरसे आत्मसात् करनेको वे इतनी उतावली-सी भागती हैं कि स्वयं उनके जनक हिमाचलको स्तम्भित रह जाना पड़ता है। बेचारे दूरतक उनके साथ आते हैं पर दुहिताएँ किसकी हुई हैं; बिछोहकी उस घड़ीको अमर करके वे उस उन्मादको आजतक देखते चले आ रहे हैं और जबतक जग है देखते ही रहेंगे, पर मनुष्यकी बुद्धिको देखिए, वह उनकी इस अवस्थामें भी रस लेता है। अवसर खोज-खोजकर वह इन भयानक प्रदेशोंमें स्वास्थ्य और सौंदर्य, सुख और शान्तिकी तलाशमें आता है। उसके धर्मका व्यापार भी इसी 'स्वर्ग'में होता है। पं० कृपाराम उन्हीं मनुष्योंके पण्डा हैं। व्यापारिक भाषामें उन्हें कमीशन एजेण्ट कहा जा सकता है।

जैसा कि मैंने अभी कहा था, उस समय सन्ध्याकाल था। हिम प्रदेशका सूर्य धीरे-धीरे सामनेकी पर्वतशृंखलाके पीछे उतरता जा रहा था और मैं मौन मुग्ध प्रकृतिकी सतरंगी सुषमाको निहारता हुआ सुदूर भूतमें भटक गया था, उस भूतमें जिसमें यक्ष, किन्नर और किरातोंका साहस इस अछूते सौंदर्यका रसास्वादन किया करता था। कितने शक्तिशाली होंगे वे लोग ... कि सहसा मेरा ध्यान भंग हो गया। देखा—बाहर बरामदेमें कोई अपरिचित लम्बे-लम्बे डग रखता हुआ धीर गम्भीर गतिसे घूम रहा है। कौतूहल बढ़ा। मैं उठकर बाहर आ गया। क्या देखता हूँ कि कन्धेपर गमछा डाले, कमीज, धोती और साफेसे लैस एक मानवरूपधारी जन्तु उपस्थित है। उनके नयन अनुपातसे हाथीके नयनके समान संकुचित और भावहीन हैं। उनका मुख यद्यपि पतला है पर उसीकी तरह दिलकी बात बता सकनेमें असमर्थ है। गरदन कुछ चीलकी तरह कोण बनाती है। उनकी टाँगें बगुलेकी तरह लम्बी हैं। और चाल ऊँटकी भाँति धीर गम्भीर है। वह बिल्लीकी भाँति अतिशय विनम्र जान पड़ते हैं और उनकी मूँछोंके बाल चूहेकी मूँछकी भाँति सारा स्थान घेरनेमें विश्वास नहीं करते। मुझे देखते ही उन्होंने दोनों हाथ जोड़े और फिर अलिप्त भावसे उन्हें माथेतक ले जाकर प्रणाम किया और पूर्णतः घूमते रहे। मेरे साथी राज्यके एक अधिकारी थे। मैंने समझा ये विचित्र प्राणी उन्हींके क्लाएण्ट हैं। मैं कुछ आगे बढ़ा तो उन्होंने एक बार फिर अलिप्त भावसे प्रणाम किया। वह दूसरा प्रणाम कुछ अर्थभरा था। मैं झिझका कि उनसे कुछ पूछूँ पर इससे पूर्व ही चपरासीने अन्दरसे आकर कहा, 'साहब बोलते हैं कि उन्हें आपकी जरूरत नहीं है।'

वे मुसकराये और बोले, 'अच्छा?' फिर मेरी तरफ एक छपा हुआ कागज बढ़ाया। मैंने पूछा, 'क्या है?'

'देखिये', वे मितभाषी बोले।

मैंने एक बार फिर उनका निरीक्षण किया। भला आदमी कोई भी तो भाव प्रगट नहीं कर रहा था। बड़ा क्रोध आया विधाताकी इस रसहीन

सृष्टिपर और मन मारकर उस मुद्रित पत्रकको देखने लगा। सबसे ऊपर मोटे अक्षरोंमें केदारनाथके पण्डा पं० कृपाराम कुंजीरामका पूरा पता अंकित था। नीचे क्रमसे उत्तराखण्ड यात्राके मार्गपर आने वाले सभी पड़ावोंकी सूची दी हुई थी। साथ ही प्रत्येक पड़ावके बीचकी दूरी भी लिखी हुई थी। मैंने गरदन उठाकर पूछा, 'आप पण्डा हैं।'

'जी, जी हाँ।' उनके नेत्र संभवतः चमके, 'मैं कृपाराम हूँ। कुंजीराम मेरा बेटा है।'

'पर साहबको आपकी जरूरत नहीं है।'

'जी हाँ। आप यह कागज रखिये।'

'मैं उन्हींके साथ हूँ।'

'जी हाँ। मेरा प्रबन्ध ठेठ केदारनाथतक है। मैं गुप्तकाशीके पास रहता हूँ।'

'पर हमें आपकी जरूरत नहीं है। हम लोग यात्रापर नहीं, सरकारी कामसे जा रहे हैं।'

'जी हाँ, मैं जानता हूँ। आप कहीं भी मेरा नाम पूछ सकते हैं।'

फिर सहसा उसी निर्लिप्तपर नाटकीय ढंगसे संगमकी ओर इशारा करके कहा, 'वह मन्दाकिनी और अलकनन्दाका संगम है। पैड़ियोंसे ऊपर देवीका मन्दिर है। राजा गयके यज्ञमें परशुरामने क्रुद्ध होकर दो लाख ब्राह्मणोंको ब्रह्मराक्षस हो जानेका श्राप दिया था। उसी श्रापसे वे यहाँ मुक्त हुए थे···।'

तबतक मेरे साथी भी आ गये थे। पण्डित कृपारामने शीघ्रतासे प्रणामको सलामकी मुद्रामें फेंका। साथीने धीरेसे कहा, 'पण्डितजी! आप हमारे लिए कष्ट न कीजिये।'

'जी हाँ। मैं बता रहा था कि यहाँ रुद्रेश्वर शिवका मन्दिर है।'

'मैं कहता हूँ, महाराज! हमें आपकी जरूरत नहीं है।

'हजूर! यह तो हमारा काम है। हम इसीलिए हैं कि यात्रियोंकी सेवा करें।'

'पर हम यात्री नहीं हैं।'

'जो यहाँ आता है वह यात्री है हजूर! और फिर हम सब इस संसार-में यात्रा करने ही तो आते हैं।'—उन्होंने कहा और छतरी उठाकर चलते बोले, 'अच्छा' गुप्तकाशीमें मिलूँगा। वहाँ धर्मशाला है···।'

साथीने अपनी तिलमिलाहटको बड़े परिश्रमसे शान्त करते हुए कहा, 'हमें न धर्मशालाकी जरूरत है न आपकी। आप कष्ट न कीजिये।'

मैंने भी साथीका समर्थन किया, 'हमें खेद है कि हम आपकी सेवाका लाभ नहीं उठा सकते। आप किसी औरको देखें।'

वे तब अपने उसी शाश्वत शान्त और अलिप्त भावसे मुड़े और चले गये। पीछेसे उनकी दीर्घता और क्षीणता दोनों मुझपर और भी स्पष्ट हो गई। पर तभी मुझे ध्यान आया कि उनका मुद्रित पत्रक तो मेरे ही पास रह गया। साथीने कहा, 'चपरासीको दे दीजिए। दे आयेगा।'

मैं कुछ सोचकर बोला, 'यात्रामें यह पत्र बड़ा काम आयेगा।'

'तो रख लीजिए', साथीने अनमने भावसे कहा। उन्हें शायद भय था कि पत्रक पास रहा तो पण्डाजीकी आत्माको पार रहनेका बहाना मिल जायगा। और उनका वह यह डर सोलह आने ठीक निकला। तीन दिन बाद जब हम प्राणोंको थका देने वाली चढ़ाई वाले उस भयंकर मार्गपर पर्वतीय प्रदेशोंकी सुषमा और सौरभको अन्तमें सँजोते हुए गुप्तकाशी पहुँचे तो क्या देखते हैं कि पण्डित कृपाराम उसी निर्द्वन्द्व और अलिप्त मुद्रामें मन्दिरके द्वारपर हमारी प्रतीक्षा कर रहे हैं। मेरे साथी तिलमिला उठे, बोले, 'सीधे चलो! यहाँ नहीं रुकना है।'

पंडितजीने यथावत् प्रणाम किया और फिर नारी दलकी एकमात्र सदस्या भाभीजीकी ओर मुड़कर कहा, 'आइये! यह विश्वेश्वरका प्राचीन मन्दिर है। इसके आँगनमें मणिकर्णिका घाट है।' उनका दुर्भाग्य। बी० ए० पास भाभीजी घोर नास्तिक निकलीं। बोलीं, 'मैं जानती हूँ।'

'वहाँ गंगा-यमुनाकी धारा शिवजीके नीचेसे आकर गिरती हैं।'

'मैंने सुना है।'

मैं उन्हें यह मधुर वार्तालाप करते छोड़कर शीघ्रतासे मन्दिरके दूसरे द्वारकी ओर मुड़ा जिससे कमसे कम कुण्डमें पड़ती हुई गंगा-यमुनाकी धारको देख सकूँ पर कृपाराम तो सर्वव्यापक थे। हमसे पूर्व ही वे अन्दरसे होकर हमारे स्वागतको वहाँ उपस्थित थे। उनके हाथमें बहुत-से पत्र थे। एक पत्र मेरे साथीकी ओर बढ़ाकर कहा, 'देखिये।'

'क्या है?'

'एक बड़े अफसरकी चिट्ठी है।'

वह यात्रापर जानेवाले एक सरकारी अफसरका पत्र था जिसमें लिखा था कि पण्डित कृपारामने उन्हें मन्दिर दिखाये थे। साथीने पढ़कर उसे उन्हें ही लौटा दिया और आगे बढ़ गये। पण्डित कृपारामने कहा, 'रुकेंगे नहीं।'

विनम्र भावसे साथीने फिर उत्तर दिया, 'हमें आपकी जरूरत नहीं है। आप व्यर्थ ही कष्ट उठा रहे हैं। समझे।'

'जी समझ गया। गौरी कुण्डपर दर्शन करूँगा।'

'क्या मतलब?', साथी क्रुद्ध हो उठे।

'हजूर! हम तो सेवक हैं। यही काम करते हैं।'

हम बिना जवाब दिये आगे बढ़ गये। बढ़े चले गये। महिषमर्दिनीके उस प्रदेश (मैखण्ड) में अनेक तीर्थ आये। अनेकों उन्मादिनी गंगाओं-का आत्मसमर्पण देखा, ज्वारभाटेकी तरह चढ़े और उतरे, और इस तरह पहुँच गये गौरीकुण्ड। शीत बढ़ चला था और शरीर थककर चूर हो रहे थे। लेकिन कलकी यात्राका विचार हमारा सम्बल बना हुआ था। सात मीलके मार्गपर हमें ६५०० फीटसे ११५०० फीट ऊपर चढ़ना था। साथीने कुछ चिन्तित भावसे कहा, 'वहाँ भयंकर शीत पड़ता है। और रहनेके लिए कोई डाक-बँगला नहीं है।'

चपरासीने बतलाया, 'जी धर्मशालाएँ हैं।'

'धर्मशालाएँ।' उन्होंने घृणासे भरकर कहा, 'उनकी दीवारें थूक और पीकसे रंगी रहती हैं।'

मैं बोला, 'तो कोई और प्रबन्ध हो सकता है?'

चपरासी झिझका, 'जी और तो वहाँ पण्डा लोग हैं।'

जैसे पण्डाजी सुन रहे थे। नीचेसे आकर सामने खड़े हो गये। प्रणाम किया और बोले, 'हजूर! मैं रात आ गया था। अभी जा रहा हूँ। आप कुछ चिन्ता न करें।'

साथी सकपकाये तो पर सहसा क्रुद्ध न हो सके। पूछा, 'कहाँ जा रहे हो?'

'केदारनाथ।'

'तो जाइये।'

'जी हाँ। वहाँ मैंने दो कमरे ठीक कर लिये हैं। दीवार साफ करनेको कह दिया है। नीचे कालीन बिछ जायेंगे। अंगीठी है। कोयले भी हो ही जायँगे। शेष पूजाका सामान मेरे पास है।'

'पर हमें...।'

पण्डित कृपारामने हाथ बाँधकर कहा, 'आप कैलाशके अतिथि हैं और हम उसके सेवक, अतिथिकी सेवा हमारा कर्तव्य है।'

और आगे बातें न करके वे केदारनाथके मार्गपर उतरते चले गये। मैं देखता ही रह गया। वही क्षीणकाय, दीर्घदेह; अलिप्त भाव, संकुचित नयन, और लम्ब चरण। साथीने कई क्षण बाद कहा, 'बड़ा अजीब आदमी है।'

भाभीजी बोलीं, 'जोंक है। एक बार चिपटकर इसने उतरना नहीं सीखा।'

मैंने मुस्कराकर कहा, 'उतरती तो है।'

'जी हाँ उतरती है पर खून पीकर।' भाभीजी उसी तरह बोलीं।

मैंने तर्क किया, 'जी हाँ, पर वह गन्दा खून होता है। उसका निकल जाना स्वास्थ्यके लिए हितकर है।'

और हम सब हँस पड़े। पर अगले दिन जब लम्बी चढ़ाई शुरू हुई तो प्राण विद्रोह करनेको प्रस्तुत हो गये। एक सहयात्रीने बताया कि जब प्रथम बार शंकर भगवान् इधर आये थे तो वे भी इतने थक गये थे कि उन्होंने अन्तिम भारस्वरूप लँगोटी भी उतार फेंकी थी। उसी दिनसे इस चढ़ाईका नाम लंगोटिया चढ़ाई पड़ गया है। कथा झूठ हो सकती है पर भावकी सचाईके लिए प्रमाणकी जरूरत नहीं थी। उसपर हिमके भारसे दबी हुई वायु चाकूकी तरह चुभ रही थी। आकाश मेघोंसे आच्छादित था और पृथ्वी ठण्डे कुहरेमें लिपटी हुई थी। मन्दाकिनीका स्वर भी जैसे जमता आ रहा था और उसीके साथ हमारा रक्त भी। यदि चलनेका प्रश्न न होता तो सम्भवतः हम भी शिलारूप हो जाते। मेरे साथीने जो घुटनोंपर हाथ रखते-रखते थक गये थे, एक दीर्घ निःश्वास खींची। कहा, 'गजबकी सर्दी है।'

मैं बोला, 'सर्दी आगे है। अभी हम चल रहे हैं।'

पर आगे सर्दी जो थी सो थी, उसके साथ पण्डित कृपाराम भी थे। सर्पाकार मार्गको पार करके जैसे ही हमने उस नीरव निर्जन नगरीमें प्रवेश किया तो देखा—एक मकानमेंसे निकलकर भाव-विहीन लघु नयनधारी पण्डित कृपाराम हाथ जोड़कर हमें प्रणाम कर रहे हैं। मेरे साथीको जैसे ग्रीष्म ऋतुकी वायुने स्पर्श किया। बोले, 'तो आप हैं।'

'हजूर! कमरे तैयार हैं।'

'कहाँ?'

पण्डित कृपाराम पहली बार कड़के, 'ए कुली! उधर जो आदमी खड़ा है वहाँ सामान ले चलो।'

'ऊपर।'

और फिर मुड़कर कहा, 'चलिए हजूर! सब ठीक है। गलीचे बिछे हैं। अँगीठी तैयार है।'

और फिर ऊपर जाकर, न केवल उन्होंने बिस्तर खोल डाले बल्कि अँगीठीमें फूँक मारकर राखकी सात तहोंमें दबी हुई आगको चेताने लगे। तब उनकी स्फूर्ति देखने योग्य थी। जब कि ओवरकोटमेंसे होकर शीत हमारी हड्डियोंको कँपा रहा था वे एक ठण्डा कोट पहने हमारी प्रत्येक सम्भावित आज्ञाको पूर्ण करनेके लिए तत्पर थे। मेरे साथीने यह सब देखकर कहा, 'अद्‌भुत आदमी है।'

'जी नहीं।'—मैंने कहा, 'आदमी नहीं पण्डा है।'

'और पण्डे होते हैं जोंक।'—भाभीजी बोलीं।

'और जोंक सदा गन्दा खून पीती हैं।' मैंने विनोद किया।

पर इससे पूर्व हम हँसे (हँसी जम जानेके कारण स्वतः नहीं फूटती थी) पण्डित कृपारामजी दौड़े-दौड़े आये। बोले, 'हजूर! मन्दिरके पट खुल रहे हैं। दर्शनके लिए चलिये!'

'दर्शन! इस शीतमें! बाप रे—अब तो नास्तिक बननेमें ही कल्याण है।' साहबने मुस्कराकर कहा, 'पण्डितजी! चाय छोड़कर इस समय बाहर जाना अच्छा नहीं लगता। दर्शन सवेरे करेंगे।'

'हाँ हजूर! यही ठीक रहेगा। बच्चे कहाँ जायेंगे। आप चिन्ता न करें। मैं प्रसाद ले आऊँगा।'

और वे उसी तरह लौट गये। हम अभी चाय समाप्त भी नहीं कर पाये थे कि एक पुड़ियामें भभूत तथा दूसरीमें कुछ इलायचीदाने लेकर वे फिर आ पहुँचे। चाय छोड़कर हम उसी तरह हाथ जोड़कर बैठ गये और उस प्रसादको नेत्र मूँदकर ग्रहण किया।

वे चले गये तो मेरा मन न जाने कहाँ-कहाँ भटक गया—चिरंतन हिम प्रदेशोंकी यह उत्तुङ्ग उपत्यका, शाश्वत शुभ्र हिम, धवल मौन ज्योत्स्ना, शान्त नीरव निधि, एक साथ क्षुद्र और महान् मानव और पण्डित कृपाराम–एक साथ प्रेय और हेय, एक साथ लघु और दीर्घ, एक साथ कीट और किरीट...।

न जाने कब सो गया। आँखें खुलीं तो देखा—पण्डित कृपाराम हाथ जोड़े खड़े हैं।

'आज्ञा भगवन् !'

बोले, 'चलिए।'

'कहाँ ?'

'पूजनके लिए।'

सब हड़बड़ाकर उठे। प्रकृतिदर्शन, पंचस्नानी, चायपान, उसके पश्चात् देवताकी आराधनाका नम्बर आया। नियमित व्यायाम करना पड़ा।—यहाँ आइये, वहाँ बैठिए, इधरसे परिक्रमा करिए, शिवलिंगका आलिंगन कीजिये, ये भैरव हैं, ये नन्दी हैं, ये गणेश हैं, ये पाण्डव हैं, जो श्रद्धा हो चढ़ाइए। सब राज्यको जाता है। कमेटी बनी है। आदि आदि…।

तब उनकी मुखरता देखते बनती थी। वे स्वामी थे, हम सेवक थे, वे कहते थे, हम करते थे। धीरेसे कानमें बोले, 'मन्दिरके पीछे एक स्वामी रहते हैं। तपस्वी हैं। श्रद्धा हो तो कुछ भेंट कर दीजिए।'

साहबने आज्ञाका पालन किया।

'इस कुंडके जलसे आचमन करनेसे पुनर्जन्म नहीं होता। लीजिए हाँ, हाँ, झिझको मत। कैलाशकी भूमिमें झूठ सचका विचार नहीं होता।'

और सबने आचमन किया।

पण्डित कृपारामने उसी निर्लिप्त भावसे आशीर्वाद दिया। बोले, 'उधर कुछ कुण्ड और हैं।'

'उनका देखना आवश्यक है।'

'बिल्कुल नहीं। और हजूर मेरा कहना मानें तो ऊपर वासुकी ताल भी न जायें। विकट मार्ग है। वहाँ कोई नहीं जाता।'

यह पिछली बात हाथ जोड़कर उन्होंने इतनी दीनतासे कही कि मुझे

लगा जैसे उनके हार्थी सरिस लघु नयनोंमें आत्मीयता साकार हो उठी है। साहबने मुसकराकर कहा, 'पण्डितजी! कोई नहीं जाता तो हम जायँगे। आप चिन्ता न करिए। आपकी दक्षिणा...।'

एकदम बीचमें टोककर वे बोले, 'अभी तो हजूर फाटा तक साथ रहेंगे। वहाँ दक्षिणा दूँगा। बार-बार दूँगा।'

और अपने कहेके अनुसार जब हम केदारनाथ यात्रासे लौटते हुए फाटा पहुँचे तो पण्डित कृपारामजी सदाकी भाँति उपस्थित थे। वही भावहीन नयन, वही निर्लिप्त भावना, हाँ, एक अन्तर अवश्य था—भाषामें कुछ आत्मीयता बढ़ रही थी। बोले, 'हजूर! आप लोग बड़े साहसी हैं। १६००० फीट ऊपर चले गये।'

साहब मुसकराये, 'जाना पड़ा पण्डितजी, सारा रास्ता बर्फसे ढका हुआ था।'

'सुना तूफ़ान आ गया था।'

'जी! लौटनेकी कोई आशा नहीं थी। आपके दर्शन करने थे सो बच गये।'

'हजूर सब शिवशंकरकी कृपा है। कैलाशकी भूमिमें अन्याय नहीं होता।'

और कहते-कहते वे साहबके और पास पहुँचे। कन्धेपर एक पोटली थी। काँपते हाथोंसे उसे खोला। उसमें हरे पुष्पोंकी एक सुन्दर माला थी, उसे भक्ति भावसे साहबके गलेमें डाला और फिर हाथ जोड़कर इस प्रकार प्रणाम किया कि मानो वे ही शिवशंकर हों।

बोले, 'हजूर! यह माला विशेष रूपसे आपके लिए मन्दिरसे लाया हूँ।'

'सुन्दर है।'—साहबने देखकर कहा।

'हजूर! हर एकको नहीं मिलती। हजूर! एक चिट्ठी दे दीजिये।'

'कैसी चिट्ठी?'

'यही हजूर ! मैंने आपको दर्शन करवाये हैं।'

और उसके बाद पण्डित कृपारामको पत्र मिला, पाँचका एक नोट मिला, कुटुम्बका वंश-वृक्ष मिला। यही नहीं, साहबके दलमें जो दूसरे साथी थे उन्होंने यहाँतक कि कुली लोगोंने भी साहबका अनुसरण किया और कुछ दूर साहबके पीछे-पीछे चलकर पण्डित कृपारामने विदा ली। उन्होंने हाथ जोड़ और फिर माथेतक ले जाकर प्रणाम किया, दिल्ली और प्रयाग आकर दर्शन करनेकी बात कही और चले गये। वही क्षीणकाय, दीर्घ डग, स्थिर गति···

साहबने कहा, 'माला अच्छी है। माताजीको भेज देंगे। शिवजीका प्रसाद है।'

कुली जो साथ-साथ चल रहा था, बोला, 'हजूर ! कहें तो ऐसी माला और ला दूँ।'

'तुम ला दोगे ! क्या तुम भी ऐसी माला लाये हो ?'

'लाता कहाँसे ? डाक-बँगलेके पीछे ऐसे बहुत फूल हैं।'

'क्या मतलब ?'

'हजूर पण्डाजी सवेरे ही आ गये थे और पीछे बैठकर माला बना रहे थे। मैंने देखा था।'

'क्या ?'—साहब सहसा क्रोधसे भर उठे, क्या यह माला मन्दिरका प्रसाद नहीं है।'

'हजूर ! मन्दिरसे माला नहीं, कमलके फूल मिलते हैं।'

'तो-तो उसने झूँठ बोला झूँठ···।'

साहबका मुख तमतमा उठा। घृणा उभर आई। उन्होंने मालाको नोच डाला। बोले, 'साले पाखंडी ठग···।'

'जी नहीं जोंक', भाभीजीने विजयवर्गसे कहा और मुसकराकर मेरी ओर देखा।

सदाकी तरह मेरे मनमें उठा कि कहूँ—'जोंक तो है पर बन्दा खून पीने वाली है।' लेकिन न जाने क्या हुआ, मैं चुपचाप उसी मठके मार्गपर उतरता चला गया। उनके विजयदर्पको खण्डित न कर सका।

जून १९५९

: ११ :

जैनेन्द्रकुमार

मुझे ठीक याद नहीं, परन्तु वह सन् १९३० के आसपासकी बात है। मैं पंजाबके एक पूर्वी नगरमें रहता था। एक दिन बैठकमें बैठा हुआ कोई उपन्यास पढ़ रहा था कि एक प्रौढ़ महिलाने बिना किसी संकोचके वहाँ प्रवेश किया। मुझे उनका रूप आज भी स्मरण है—लम्बा कद, धवल वस्त्र, गौर वर्ण और मुखपर मृदु मुस्कान—किसी उद्देश्यके लिए अपनेको अर्पण कर देनेवाली भिक्षुणीकी तरह वे मुझे लगीं। उनके व्यक्तित्वमें जो मधुर मातृत्व छिपा हुआ था उसने मेरे किशोर मानसको दुलारा। उनके हाथमें एक रसीद बुक थी और वे किसी महिला-संस्थाके लिए चन्दा माँगने आयी थीं। चन्दा तो उन्हें मिला ही, पर जबतक मेरे मामा अन्दरसे पैसे लावें तबतक मुझे उनका परिचय भी मिला। उन्होंने मुझसे पूछा, 'क्या पढ़ रहे हो?'

मैंने उपन्यासका नाम बता दिया। सुनकर वे बोलीं, 'परख पढ़ा है?'

'जी नहीं। किसने लिखा है?'

'जैनेन्द्रकुमारने।'

'अच्छी पुस्तक है?'

'उसपर हिन्दुस्तानी एकेडेमीसे पुरस्कार मिला है।'

मैंने सोचा, जिसे पुरस्कार मिला है, वह अवश्य महान् लेखक है।

मैंने तुरन्त उनसे कहा, 'आप मुझे उस पुस्तकके मिलनेका पता बता दीजिए। मैं जरूर पढ़ूँगा।'

बातें आगे बढ़ीं। उन महिलाने बताया, 'जैनेन्द्र मेरा लड़का है।'

यह कहते हुए उनका सारा अस्तित्व उल्लाससे भर उठा। उनके नेत्रोंसे झरते हुए तरल पदार्थने मुझे श्रद्धासे भर दिया। मुझे याद है कि तब मेरे मनमें एक विचार उठा था, 'क्या मैं भी जैनेन्द्र जैसा बन सकता हूँ?'

जैनेन्द्रसे मेरा प्रथम परिचय इसी प्रकार हुआ था। जननीने जिसका परिचय मिले उसके भाग्यसे ईर्ष्या होनी चाहिए। आत्मीयता तो उसमें होती ही है। उसके बाद उनकी पुस्तकोंने इस परिचयको और भी पुष्ट किया। एक बार दिल्लीमें, कम्पनीबागकी किसी सभामें दूरसे उन्हें कन्धेपर चादर डाले देखा—इकहरा बदन, मझोला कद, प्रशस्त ललाट और प्रमुख नासिका, बातें करनेपर अन्तरमें लय हो जानेको आतुर आँखें और तदनुसार कुछ-कुछ तनी हुई ग्रीवा—देखता रहा, पर पास जाकर उनसे बातें करनेका साहस नहीं पा सका। कहाँ वे हिन्दीके महान् लेखक, कहाँ एक क्षुद्र पाठक!

पर भाग्यकी बलिहारी—एक दिन मैं भी लिखने लगा और साहस इतना बढ़ा कि नीर-क्षीर-विवेकी 'हंस' (मुंशी प्रेमचन्दका हंस) तक जा पहुँचा। प्रेमचन्दजीकी मृत्युके बाद मेरी कई रचनाएँ उसमें छपीं और तभी जाना जैनेन्द्रकुमार उसके सम्पादक हो गये हैं, लेख उनको भेजने होंगे। यह सितम्बर १९३७ की बात है। एक कहानी दिल्लीके पतेपर भेजी और फिर उत्सुक हृदयसे उत्तरकी प्रतीक्षा करने लगा। यद्यपि भाई साहबने उस कहानीको अच्छी बतोया था, पर मेरे लेखकके लिए तो वह तभी अच्छी हो सकती थी जब 'परख'के पुरस्कार-विजेता-लेखक उसे अच्छी कहें। आखिर उनके हाथका लिखा २० सितम्बर १९३७ का कार्ड मुझे मिला—

प्रिय नर्मदा,

कहानी मिली। उसे काशी छपनेके लिए भेज रहा हूँ। अपनी कहानीमें भावनाकी मुलायमियत थोड़ी कम भी हो जाने दें और उसकी जगह Purpose का काठिन्य आ जाय तो मुझे कहानी और भी रुचे। लिखते रहिए।

विनीत—जैनेन्द्रकुमार

पत्रका और कुछ भी असर क्यों न हुआ हो, उसने उस दुविधाको निश्चय ही दूर कर दिया जो मुझे उनसे मिलनेमें हो रही थी। मैं दिल्ली पहुँचा। शायद वह अक्तूबर १९३७ के पहले या दूसरे सप्ताहका कोई दिन था, मैं अपने बड़े भाईके साथ दरियागंजमें उनके निवासस्थानपर पहुँचा। कई क्षण हम जीनेके नीचे खड़े रहे। संयोगवश तभी श्रीमती जैनेन्द्र कहींसे आ रही थीं। उनसे पूछा, 'जैनेन्द्रजी यहीं रहते हैं?'

वे बोलीं, 'ऊपर हैं, चलिये।'

पर हम आगे कैसे चलें? आखिर उन्होंने स्वयं आगे बढ़ते हुए कहा, 'आप झिझकते क्यों हैं? निःसंकोच चले आइये।'

शायद इस चुनौतीने हमें बल दिया। ऊपरके कमरेमें कई व्यक्तियोंके बोलनेका स्वर आ रहा था। और जैसे ही हमने अन्दर प्रवेश किया वैसे ही सबकी दृष्टियाँ हमारी ओर उठीं। मैंने देखा—वह छोटा-सा कमरा जिसके एक कोनेमें एक मेज-कुर्सी पड़ी है, चटाईपर बैठे हुए व्यक्तियोंसे भरा हुआ है और बीचमें टहल रहा है एक इकहरे बदन और मझले कदका व्यक्ति, जिसने केवल बनियाइन और जाँघिया पहना है और कन्धेपर डाला है तौलिया। मैं शक्लसे जैनेन्द्रको पहचानता था, इसलिए यह समझनेमें कोई कठिनता नहीं हुई कि घूमनेवाले व्यक्तिसे ही मिलना है। मैंने प्रणाम किया और उन्होंने बैठनेका संकेत। साथ ही उनकी दृष्टिने पूछा, 'कहाँसे आना हुआ?'

परिचय मेरे भाईने दिया। नाम सुनते ही जैनेन्द्रजी बोल उठे, 'You write remarkably well.' (तुम विशेष रूपमें सुन्दर लिखते हो।)

इस वाक्यने मुझे कितना बल दिया, यह निश्चय ही मैं आज शब्दोंमें ठीक-ठीक न बता सकूँगा। मैं उनके कमरेकी अकिंचनताको बिल्कुल ही भूल गया और यह भी भूल गया कि यहीं बैठकर इस व्यक्तिने अपने साहित्यका निर्माण किया है। एक नये लेखकसे इस प्रकारका व्यवहार उन दिनों (आज तो और भी अधिक) निस्सन्देह अकल्पनीय-सा लगा। उनसे मेरा यह पहला प्रत्यक्ष परिचय था। पहले परिचयकी बहुत कहावतें प्रचलित हैं। दो ध्रुवोंके अन्तरके समान अन्तरवाली 'प्रथमग्रासे मक्षिका-पातः' और Love at first sight (चक्षुराग) जैसी उक्तियाँ किसी कविकी कपोल कल्पना नहीं हैं। वे किसी मेरे-जैसेके प्रत्यक्ष अनुभवका परिणाम हैं। उस दिन मेरा अनुभव दूसरी उक्तिके आसपास था। उनका व्यक्तित्व प्रभावशाली नहीं कहा जा सकता, परन्तु उन्नत ललाटकी छायामें, श्येन नासिकाके आसपास अन्दरको दबेसे जो दो नयन हैं और जो कहीं दूर झाँकते जान पड़ते हैं, आपको पकड़ लेनेकी उनमें पूरी शक्ति है।

उन्होंने मुझे भी पकड़ा। मेरा भय कम हुआ और मेरी तबीयतमें जो अलगाव था उसे न रखनेका निमन्त्रण लेकर मैं लौटा। लेकिन इससे पहले मैं कुछ करनेका साहस बटोर सकूँ, उन्होंने और भी गहरी आत्मीयतासे उस निमन्त्रणको दोहराया। एक महीना बाद, नवम्बर १९३७ के अन्तिम सप्ताहकी बात है। शरत्कालीन रात्रिके गहरे सन्नाटे और घने कुहरेसे आच्छादित अपने छोटे-से नगरकी एक सुनसान गलीमें, मैं टिमटिमाती हुई लालटेनके सामने बैठा लिख रहा था। तब अनायास एक शब्द उस सन्नाटेको आलोडित करता हुआ उठा—'विष्णुजी कहाँ रहते हैं?' मैं कुछ चौंका, फिर भी वह पहली पुकार मैंने अनसुनी कर दी। परन्तु दूसरे ही क्षण वह स्वर फिर उठा, फिर उठा। तब मुझे भी उठना पड़ा। अन्धकारमेंसे झाँककर मैंने पूछा, 'कौन साहब?'

सन्नाटेमें वही स्वर गूँजा, 'जैनेन्द्र !'

लिखनेमें मुझे और पढ़नेमें आपको देर लगेगी, पर मेरे शरीरमें ऊपरसे नीचेतक सिहरन दौड़नेमें देर नहीं लगी—जैनेन्द्र ! इस समय ? यहाँ···। सोच रहा था और गिरता-पड़ता दौड़ा जा रहा था। किवाड़ खोलकर किसी तरह कहा, 'नमस्ते। आप इस समय···!'

जवाब दिया, 'हाँ, इधर आना हुआ, सोचा तुमसे मिलता चलूँ, कहानीपरसे तुम्हारी गलीका नाम पढ़ा था।'

'बड़ी कृपा की आपने।'

'अरे कृपा क्या बला है', उन्होंने कुछ हँसकर कहा। फिर ऊपर चढ़ते-चढ़ते पूछा, 'बड़ा सन्नाटा है ?'

'जो छोटे शहरमें रात जल्दी आ जाती है और फिर यहाँ तो बिजली भी नहीं है।'

वे वहीं मेरे पास फर्शपर बैठ गये। चारों तरफ मेरा सामान बिखरा पड़ा था। पूछा, 'क्या लिख रहे हो ?'

मैं तब 'आश्रिता' कहानी लिख रहा था। उसीकी चर्चा शुरू हो जाती, पर मैंने बातको घुमा दिया। कुछ और चर्चा चल पड़ी। वे बातें करते जाते थे। और साथ ही मेरी प्रत्येक वस्तुका निरीक्षण भी। उन्होंने मेरे पेनको, जो खुला रह गया था, बन्द करके रख दिया। फिर सामने दीवारपर लगे हुए स्वामी दयानन्द तथा महात्मा गाँधीजीके चित्रोंको देखा और बोले, 'सफलता तब है जब लेखनी की शक्ति वाणीमें आ जाये। लिखी हुई बातमें जितनी आन्तरिकता है, उतनी ही बोली हुई बातमें हों। तब सन्तोष हो।'

शब्द मेरे हैं पर भाव उनका है। स्पष्ट ही उनका लक्ष्य वे दोनों महापुरुष थे। आज जो उनमें प्रवचन देनेकी या प्रश्नोत्तर-पद्धतिको प्रोत्साहन देनेकी प्रवृत्ति है उसके मूलमें यही महत्त्वाकांक्षाकी भावना है।

लौटते समय जब मैं कुछ दूरतक उनके साथ गया तो उन्होंने

मुझसे पूछा, 'क्या तुम इधर मेरी पुस्तकोंके प्रचारका प्रबन्ध करवा सकते हो ?'

मरुभूमिमें कोई पानीकी माँग करे, ऐसी वह बात थी। इस बातने मुझे कुछ धक्का भी लगा। क्या लेखकको अपना लिखा बेचना भी पड़ता है ? पर यह विषयान्तर है, उस क्षण तो उनकी आत्मीयताने मुझे जीत लिया था। इस पराजयमें मुझे सुख मिला। इसके बाद रहा-सहा व्यवधान भी जाता रहा और मनमें एक निजीपनका आविर्भाव हुआ। उन्होंने पहले पत्रमें मुझे 'प्रिय महोदय' कहकर सम्बोधित किया था, पर इस घटनाके छः-सात दिन बाद 'आश्रिता' कहानी पाकर उन्होंने लिखा—

भाई विष्णुजी,

'आश्रिता' कहानी अभी मिली। अभी देख भी ली। बहुत अच्छी मालूम हुई। मुझे ईर्ष्या होती है। इतनी सूक्ष्मता हिन्दीमें तो देखनेको नहीं मिलती। क्या मैं बधाई दूँ...।

लगभग साढ़े तीन महीनेके अल्प कालमें ही 'प्रिय महोदय' से मैं 'भाई विष्णुजी' बन गया। इस आत्मीयताने मेरे साहित्यको क्या कुछ दिया, इसका मूल्यांकन सहज नहीं है। जिस कालमें मेरी हत्या हो सकती थी। उसी कालमें मुझे इतना स्नेह मिला। इस गौरवका श्रेय अकेले मेरा नहीं है, जैनेन्द्र जैसे मित्रोंका भी है।

पर जैनेन्द्र जो ऊपरसे इतने सरल दिखाई देते हैं, क्या वे सचमुच सम्पूर्ण रूपसे सरल हैं। फिर एक घटना याद आ रही है। मई १९३८ में मेरा विवाह हुआ था। भाई यशपालके साथ वे भी बारातमें गये। हरिद्वार जाना था। मार्गमें रुड़कीके पास नहरके किनारे रुकनेकी व्यवस्था थी। न जाने कैसे उस पार पत्थर फेंकनेकी प्रतियोगिता शुरू हो गयी और मुझे यह देखकर बड़ा अचरज हुआ कि जैनेन्द्रजी अनायास ही सबसे आगे निकल जाते हैं। यह अचरज मुझे ही हुआ हो सो बात नहीं। अक्सर जब लोग सुनते हैं कि जैनेन्द्र माने हुए खिलाड़ी हैं या सिद्धहस्त

तैराक हैं, बहुत अच्छी साइकल चला लेते हैं तो उन्हें भी सहसा विश्वास नहीं होता। उसका कारण है उनका व्यक्तित्व और उनकी वेषभूषा। वे सादगीसे रहते हैं। अकर्मण्य सादगी नहीं, उसका स्थान तो कहीं गन्दगी-के आस-पास है और महत्त्वाकांक्षी गन्दा नहीं रह सकता। लेकिन हमने सादगीके कुछ अर्थ मान लिये हैं, इसीलिए उन्हें देखकर अक्सर लोगोंको धोखा हो जाता है। एक बार एक बन्धुने किसीका शाल ओढ़ रखा था। उसे देखकर वे बोले, 'आपको यह शाल सजता है, खरीद लो न।' दूसरी बार एक मित्र उनके पास इसलिए आये कि वे उनके साथ चन्देके लिए चलें। उन्होंने पूछा, 'कितने चन्देकी बात है।' बात बहुत बड़ी नहीं थी। वे बोले, 'आप मुझसे दस-बीसकी क्या बात करते हैं। हजार-दस हजारकी करिये। तब मैं आपके साथ चल सकता हूँ।' एक बार फिर किसी सम्बन्धमें उन्होंने कहा था, 'क्या बताऊँ सेकेण्ड क्लासमें ट्रैवेल करनेकी आदत पड़ गयी है!' इधर उन्हें वायुयान प्रिय हैं। तो यह सब अस्वाभाविक नहीं है। ये घटनाएँ, उनकी दिखायी देनेवाली रहन-सहनकी सादगीके पीछे जो गहरी महत्त्वाकांक्षा छिपी हुई है, उसे उभारती है।

साहित्यकी चर्चा करते हुए उन्होंने मुझसे कहा था कि धर्म-विचारमें मैं सेक्स और अर्थ इन दोनोंको ही मनन और अन्वेषणका विषय मानता हूँ। पौदेके दो भागोंकी तरह सेक्स जड़की भाँति धरतीके नीचे फैलती है और अर्थ पत्र-पुष्पके समान धरतीके ऊपर फैलता है। उनके जीवनमें जो जटिलता है उसका कारण इन शब्दोंमें उपस्थित है। जैनेन्द्र यों अहिंसामें विश्वास करते हैं। अहिंसा और महत्त्वाकांक्षाका मेल कैसा। अनहोनी-सी बात लगती है, पर जो साध सकता है उस साधकके लिए अनहोनी कुछ नहीं है। जैनेन्द्र इस दृष्टिसे साधक हैं। वे युद्धमें सदा निडर और तूफान-में सदा शान्त रहनेका प्रयत्न करते हैं। उनपर हमला होता है तो वे कभी उग्र रूप धारण नहीं करते। अन्दरसे उबलकर भी वे शान्त रहना चाहते हैं, पर वे बदला न लेते हों, सो बात नहीं। वे बदला लेते हैं, ऐसा लेते

हैं कि हमलावर तिलमिला उठता है उसी तरह जिस तरह वे तिलमिलाते थे। तिलमिलाते न तो बदला कैसे लेते? दिल्लीकी सुप्रसिद्ध साहित्यिक संस्था 'शनिवार समाज'में उनपर एक लेख पढ़ा गया था। अनजाने ही वह कुछ असन्तुलित हो गया था। उनके व्यक्तित्वपर काफी करारी चोटें थीं। उन्होंने उसका उत्तर दिया यद्यपि देना बचा सकते थे। उस उत्तर-की एक बात मुझे याद है। उन्होंने कहा था कि इस लेखमें मैंने अपने चेहरेको तो देखा ही पर साथ ही आलोचकको भी देखा।

आलोचकपर यह हथौड़ेकी चोट थी। आलोचक यदि अपने लेखमें रह जाता है तो उसका अध्ययन विषयगत (Objective) न होकर आत्मगत (Subjective) हो जाता है। उसे यह अधिकार नहीं है।

जैनेन्द्रको उत्तर देना आता है। और उसमें जो अर्थ गर्भित रहते हैं वे सुननेवालेके दिलको पकड़ लेते हैं, यह उनकी प्रतिभाका प्रसाद है और इसी प्रसादके कारण उनके साहित्यमें प्राण है। अगस्त १९५० की बात है। रेडियो स्टेशनपर उनकी नियुक्तिकी चर्चा चल पड़ी थी। लोग तरह-तरहकी बातें करते थे। मैंने भी उनसे पूछा, 'सुना है, आपकी नियुक्ति रेडियो-स्टेशनपर हो रही है।'

वे बोले, 'ऐसा तो हो ही नहीं सकता।'

'क्यों?'

'क्योंकि हम रेडियोमें जायेंगे नहीं, रेडियोपर हमें कोई बुलायेगा नहीं। क्योंकि रेडियो रेडियो है, हम हम हैं।'

इस प्रखरताकी एक और घटना याद आ रही है। सुना है कि एक बार कुछ मनचलोंने एक आधुनिक क्लबमें हो रही भरी सभामें उन्हें छकानेके लिए प्रयत्न किया। कहा, 'आप शराब नहीं पीते! उसमें क्या दोष है।'

सभा सभ्य लोगोंकी थी और सभ्यता वह प्राचीन न थी। जैनेन्द्रजीने कहा, 'दोष शायद यही है कि उसका नशा उतरता है।'

पर यह प्रखरता तो असिधारा व्रतके समान है। असन्तुलनका अर्थ स्पष्ट मृत्यु है और कोई सौभाग्यशाली मृत्युसे बच भी जाये, परन्तु गलत-फहमीका शिकार तो वह होगा ही। दिल्लीमें उन्होंने हिन्दी-परिषद्का आयोजन किया था। एक बन्धु, जो हृदय-रोगसे पीड़ित थे, अचानक अस्वस्थ हो गये। मुझसे अधिक वे उनके आदमी थे। मैं तब अकेला ही रोगीके पास था। मैंने जैनेन्द्रजीको सन्देशा भेजा। उनका घर दूर नहीं था, पर वे नहीं आये। सौभाग्यसे वे बन्धु इस योग्य हो गये कि उन्हें घर छोड़ आया जा सकता था। वैसे वे बन्धु स्वयं बड़े साहसी थे, पर मैं जैनेन्द्रजीके न आनेसे बड़ा क्षुब्ध था। उन बन्धुको घर पहुँचाकर मैं उनके पास पहुँचा और न आनेका कारण पूछा। उन्होंने कहा, 'मैं आता भी तो क्या करता? करनेवाला तो भगवान् था। फिर तुम थे।'

माना उनका तर्क गलत नहीं था, पर दुनिया तो इस तर्कके सहारे नहीं चलती। आदर्शकी ऊँचाईके पीछे छिपकर छुट्टी नहीं पाई जा सकती। इसीलिए सब गड़बड़झाला है। इसीलिए व्यवहार और आदर्शमें अन्तर है। अन्तर ही अन्तर है, पर क्या इसके लिए उन्हें दोष देना होगा। मनुष्यको दोष देनेका नहीं, दोष स्वीकार करनेका अधिकार है। स्वयं जैनेन्द्र यही मानते हैं। उन्हें भी इसी दृष्टिसे आँकना उचित है। असाध्य आदर्शकी साधना तपस्या है, तपस्यामें पतनकी गुंजायश अधिक रहती है; पर इसी कारण जो तपस्यासे डरकर बैठा रह जाय, उस अभागे-से तो गिरनेवाला लाख बार बड़ा है।

जैनेन्द्र आलसी कहे जाते हैं। असलमें बात यह है कि मस्तिष्ककी असाधारणता उनके हाथ-पैर नहीं चलने देती। शरीरमें मस्तिष्ककी अधि-नायकता है। मुझे याद है, शीत ऋतुमें किसी दिन वे, मेरे बड़े भाई और मैं तीनों सवेरे लगभग ९–१० बजे बैठे तो सन्ध्याको ६ बजेतक बातें ही करते रहे और यही क्यों, उस दिन हिन्दू कालेजकी एक सभामें तो उन्होंने अपनी अकर्मण्यताका सुन्दर परिचय दिया। वे सभापति थे। हाल

खचाखच भरा हुआ था। वे भाषण देने खड़े हुए। मांग हुई, 'कहानी सुनाइये।' जवाब मिला, 'अच्छी बात है।'

और जबतक मैं कुछ सोचूँ, उन्होंने बोलना भी शुरू कर दिया। उसे बातचीत कहना ठीक होगा। उनका और उनकी पत्नीका कोई झगड़ा था, देरसे आने और भोजन न करनेका घर-घर होनेवाला झगड़ा; पर जिस ढंगसे उन्होंने उसका वर्णन किया उससे वह विद्यार्थियोंसे भरा हुआ हाल हँसीसे बराबर आन्दोलित होता रहा।

ऐसे व्यक्तिको और कुछ भी कहा जा सकता है, पर आलसी नहीं कहा जा सकता। लेकिन आलसी वे न हों पर अव्यावहारिक अवश्य हैं और एक सीमातक असहिष्णु भी। असहिष्णु इस अर्थमें कि उन्हें विरोधी-से काम लेना नहीं आता। उसपर योजनाएँ बना लेते हैं बड़ी-बड़ी। उनकी सभा-परिषदें इसी अव्यावहारिकताकी शिलापर खण्ड-खण्ड हो गयीं कि वे दूसरेके दृष्टि-बिन्दुको स्वीकार नहीं करेंगे और सबसे अपनी शर्तोंपर काम करवाना चाहेंगे। पर यह कहना कि वे अविश्वासी हैं उनके प्रति अन्याय करना है। पर साथ ही यह भी सच है कि अव्याव-हारिक आदमीमें सब दोष समा जाते हैं। उनको टिकनेका स्थान भी मिल जाता है।

जैनेन्द्र जो नहीं हैं वह बनना चाहते हैं; पर उसके लिए जो शक्ति चाहिए वह उनके पास नहीं है। शक्तिसे अधिक प्रकृतिका अभाव है, इसलिए गड़बड़ है। जैनेन्द्रके जीवनमें यही उलझन है, यही संघर्ष है। पर व्यक्ति जैनेन्द्रकी जो असफलता दिखाई देती है, आलोचक लोग लेखक-जैनेन्द्रकी वही सफलता बताते हैं। इनके साहित्यमें असाध्यको साधनेकी पुकार है, प्रयत्न भी है; पर किसी दिन वे सुलझ सके तो उनका साहित्य युग-युगका सन्देश बननेकी क्षमता प्राप्त कर सकता है।

जैनेन्द्रजीने किसी विश्वविद्यालयमें शिक्षा नहीं पायी। जो कुछ उनके पास है, वह स्वयं उपार्जित है। इसका कारण उनकी प्रतिभा है और प्रतिभा अन्तरकी शक्ति है। शेक्सपियर, डिकेन्स, गोल्डस्मिथ, बाल्जैक

और टैगोर इत्यादि ऐसे ही प्रतिभासम्पन्न लेखक थे, पर जैनेन्द्रकी साहित्य प्रतिभामें दार्शनिककी-सी एक अजीब उलझन है, कभी-कभी वह इतनी जटिल हो उठती है कि पाठक उसे भेद नहीं पाता—'कहीं पार नहीं, कहीं किनारा नहीं। आँखके ठहरनेका कोई सहारा नहीं।' लेकिन यह जटिलता केवल जैनेन्द्रकी कलममें हो यह बात वे स्वीकार नहीं करते। यह तो इसी दुनियाकी गड़बड़ है--'सब गड़बड़ ही गड़बड़ है। सृष्टि गलत। समाज गलत। जीवन ही हमारा गलत। सारा चक्कर यह ऊँटपटाँग।' पाठककी आँखें इसे कभी नहीं देखतीं। उसके जीवनमें इतना संघर्ष कहाँ है जो वह साहित्यिक जैनेन्द्रको पा सके। जो जीवनमें है वही साहित्यमें है। तभी जनताको पहचानकर भी जैनेन्द्र जनतासे दूर है। इसीलिए पाठक उनमें उतनी श्रद्धा नहीं रखता जितना उनके नामका आदर करता है।

उलझनका एक और कारण है। उनके चित्रमें रंग गहरे नहीं होते। बहुत-से तो छायाचित्र बनकर रह जाते हैं। फिर विचारोंका बाहुल्य (मस्तिष्कके अधिनायकत्वके कारण) उनकी कहानियोंको बोझिल बना देता है। उनकी चासनीका रस सूखता जा रहा है। भाषा भी एक बड़ा कारण है। उनके पीछे जो अहम् है उसे चीरकर कोई बिरला ही भीतर पैठता है। जो पैठता है वह शान्ति पाता है। दूसरे लोग अशान्ति मोल लेकर उन्हें कोसते हैं।

लेकिन कुछ भी हो जैनेन्द्र जैनेन्द्र हैं। शब्द, वाक्य, भाव, भाषा और शैली सबपर जैनेन्द्रकी छाप है। उनके भीतर शक्तिका स्रोत है, पर तथाकथित अकर्मण्यता (तथाकथित इसलिए कि मूलमें वे महत्त्वाकांक्षी हैं) के कारण उन्होंने अनुपातसे बहुत कम लिखा है। उनकी दृष्टि पैनी और बुद्धि नया सृजन करनेवाली है। संग्रह और अनुवाद उनके स्वभावके अनुरूप नहीं हैं। अनुवाद तो उनकी अपनी रचनाके जैसा हो जाता है। अध्ययनकी शक्ति भी उनमें उतनी नहीं है। वे निर्विवाद रूपसे एक मौलिक कलाकार हैं और उन्होंने साहित्यमें एक मौलिक शैलीका निर्माण किया है।

जैनेन्द्रजीके प्रशंसक और निन्दक दोनों यथेष्ट हैं। इधर उनके आलोचकोंकी संख्या बढ़ती जा रही है। उनका आक्षेप है कि आजकी कोई भी समस्या उन्हें आकर्षित नहीं कर सकी। बंगालका अकाल, विश्व-महायुद्ध, साम्प्रदायिक हत्याकाण्ड, कोई भी उन्हें विचलित नहीं कर सका। नई पीढ़ीकी शिकायत है कि वे प्रगतिशील नहीं हैं! पुरानोंकी शिकायत है कि उन्होंने सेक्सके विकृत रूपका प्रचार किया है। यह सभीकी शिकायत है कि वे समाप्त हो रहे हैं। कभी-कभी वे स्वयं भी कह देते हैं, 'हमें लगता है कि हम समाप्त हो रहे हैं।'

परन्तु यह सत्य नहीं है। प्रतिभाशाली कभी समाप्त नहीं होता, मृत्यु-के बाद भी नहीं। जीवनमें तो वह किसी भी क्षण चमक सकता है। शर्त केवल अकर्मण्यतापर चोट करनेकी है। कलाकार यदि युगकी उपेक्षा करता है तो वह युगका निर्माण भी करता है। जैनेन्द्रके विचारोंमें वह आग है जिसपर राख पड़ती जा रही है, पर वह झाड़ी भी तो जा सकती है। जैनेन्द्रका उदय धूमकेतुकी तरह हुआ था और आज भी पर देरसे सही—धूमकेतु फिर भी तो उदय हो सकता है।

और धूमकेतु क्यों? नभका झिलमिलाता हुआ एकाकी तारा क्या पथिकको राह नहीं दिखा सकता?

: १२ :

श्री चन्द्रबली पाण्डेय

क्या आप इनसे मिलना पसन्द करेंगे। जी हाँ, ये जो सबसे पिछली पंक्तिमें उन दक्षिणदेशीय बन्धुके पास बैठे हैं—ठिगना कद, कुछ दुबले-पनकी ओर झुकता हुआ शरीर, प्रशस्त ललाट, दाँतोंकी कृपासे कुछ पतला मुख, छोटी-छोटी डाढ़ी, कुछ खोजती हुई आँखें, ओठोंमें एक दबी-सी मुसकान, विनम्र और आकर्षक; सादा वेष—कुर्ता, धोती और खड़ाऊँ, जी हाँ, खड़ाऊँ, जूते नहीं; देखनेमें कुछ बूढ़े, ढंग खरा पंडिताऊ, स्वरमें मोटापन, एक चुनौती यानी पाण्डित्यका भार···।

अब आपने पहचाना! जी हाँ, जी हाँ, अद्भुत् नहीं, एकदम अद्भुत्, ऐसे ही जैसे बीसवीं सदीकी दुनियामें कोई तपोवनयुगका व्यक्ति उतर आया हो। क्या आप इनकी अद्भुत बातें जानना चाहते हैं? सुनिए, इन्होंने विवाह नहीं किया और न करनेका विचार है। जूता नहीं पहनते और न पहनना चाहते हैं। भोजनके मामलेमें जठराग्निके अति-रिक्त ये और किसी अग्निकी सहायता नहीं लेते और न आगे भी लेनेकी इच्छा है। तब कल्पनाके सहारे सोचिये कि ये क्या खाते हैं? जी हाँ, फल जिन्हें प्रभाकरकी अग्नि पकाती है। आप कह सकते हैं यह अग्निका पूर्ण बहिष्कार नहीं है। अग्निका पूर्ण बहिष्कार तो मृत्यु ही है और उसके बारेमें भविष्यद्वाणी करनेकी धृष्टता हम नहीं करना चाहते, फिर भी ये उससे बचनेका पूरा प्रयत्न करते हैं और जलमें अग्नि शान्त करनेके बाद

ही गेहूँ और चने या कभी दाल और चावल खाते हैं। पिछली दो चीज़ें ये विशेष अवसरपर विशेष आग्रहसे लेते हैं।

और इनका स्वभाव! मैं समझता हूँ इतना कुछ बता देनेपर आप यही सोचते होंगे—प्राचीन तपोवनका कोई तपस्वी है जिसका स्वभाव निश्चय ही निर्मम तार्किककी भाँति कठोर होगा जैसा कि सभी शास्त्रार्थ करनेवाले पण्डितोंका होता है। क्रोध भी आता होगा, हठी भी होंगे लेकिन···"हाँ, लेकिन क्या?" लेकिन यह कि उनकी मुसकान इनके हृदयकी कुछ और कहानी कहती है। यह विनम्रता और सरलता मनुष्यके सिवाय और किसीमें नहीं होती···आपने ठीक समझा। यह तपोवन युगका तपस्वी कभी-कभी कठोर और हठी, रूखा और अनाकर्षक दिखाई देनेपर भी मनुष्य है। वह मनुष्य जो विनम्र है, जो दूसरेको समझनेकी चेष्टा करता है। यानी जो विद्वान् है और हाँ! एक और विचित्र बात इस व्यक्तिमें है। देखनेपर जो निरा संस्कृतका पण्डित लगता है वह एक ओर जहाँ बीसवीं सदीके भारतके एक विश्वविद्यालयका एम० ए० है वहाँ दूसरी ओर फारसीका विद्वान् भी है! जी हाँ, सूफी-साहित्यका अन्वेषक और पण्डित! अब निश्चय ही इस अद्भुत व्यक्तिका परिचय पानेकी आपकी उत्कंठाकी मैं कल्पना कर सकता हूँ। घबराइये नहीं मैं आपको बताता हूँ, ये हैं इस वर्ष हिन्दी साहित्य सम्मेलनके ३७ वें अधिवेशनके निर्वाचित सभापति—श्री चन्द्रबली पाण्डेय!

जी हाँ, निर्वाचित, यद्यपि निर्वाचनके विधि-विधानपर कुछ लोगोंको शंका है। मैं छिपाऊँगा नहीं, मुझे भी है, पर वह शंका स्वयं सम्मेलनके अस्तित्वके बारेमें भी है। प्रजातंत्रके युगमें शंकाओंका जन्म बरसातके कीड़ोंकी तरह होता है और उनका मूल्यांकन भी प्रायः वैसा ही। वहरहाल वे सम्मेलनके सभापति हैं इसमें कोई शंका नहीं है, वे न राजनीतिज्ञ हैं, न सेठ और न लोक-प्रिय साहित्यिक इसलिए उनके इस पदपर आसीन होना निस्सन्देह कुछके लिए अचरजकी वस्तु है। अचरज होना स्वयंमें कोई अचरज नहीं है और पाण्डेयजीका सभापति बन जाना निस्सन्देह

डरनेवाला अचरज नहीं है। हमने उन्हें सबसे पहले एक कट्टर हिन्दी-वादीके रूपमें जाना। वादी इसलिए कि उनमें आग्रह अधिक लगता था और आग्रह भी वह जो हठके पास पहुँच गया है। जहाँ ऐसा आग्रह अधिक होता है वहाँ हमें लगता है आत्मविश्वास कम होता है या कमसे कम किसी काल्पनिक वस्तुसे भय होता है लेकिन आगे चलकर जब कानोंमें उनका शोर गहरा हुआ और उनका ज्ञान छपकर आँखोंके आगे आया तो जान पड़ा इस आग्रहमें अनुशासन और अनुसंधानका स्वर भी है। बेशक आप उस स्वरसे सहमत न हों पर उसकी ईमानदारीसे आप इन्कार नहीं कर सकते, चाहें तब भी नहीं। जैसे शिकारी भावनाकी चिन्ता नहीं करता वैसे ही हिन्दीका हिमायती यह साधु भावनासे अधिक अनुशासनपर और उससे भी बढ़कर लक्ष्यभेदके लगनका विश्वास करता है, अभी जब हिन्दीका प्रश्न देशके क्षितिजपर घृणाका धुआँ फैला रहा था तब यह साधु चुपचाप राजधानीमें बैठकर उस धुएँके बीचमें भी हिन्दीकी वकालतमें प्रमाणपर प्रमाण पेश कर रहा था। उसी वकालतका मेहनताना हम समझते हैं, सभापतित्वके रूपमें इन्हें मिला है।

कहते हैं पाण्डेयजीने हिन्दीके लिए फकीरी ली है। हो सकता है! इस तथ्यको चुनौती देनेको हमारा मन नहीं करता परन्तु उनकी साधना, लगन, अनुशासन, अनुसंधान और विद्वत्ताके प्रमाणस्वरूप हम कुछ पुस्तकोंके नाम अवश्य गिना सकते हैं—'तुलसीदास', 'विचारविमर्श', 'एकता', 'तसव्वुफ और सूफीमत' आदि उनमें प्रमुख है। अन्तिम ग्रन्थपर उत्तरप्रदेशीय सरकारने १५००) का पारितोषिक भी प्रदान किया है। हिन्दी और उर्दूके गहन अध्ययनने जहाँ इन्हें खोजकी दृष्टि दी वहाँ हिन्दीके प्रति ममता भी पैदा की। इस ममताके मूलमे कई व्यक्तियोंका हाथ रहा है। वे उर्दूके विद्यार्थी थे और मैट्रिक पास करनेके बाद, जब वे घरकी आर्थिक अवस्थाके कारण आगे पढ़नेमें असमर्थ थे तब एक व्यक्तिने उनके जीवनमें प्रवेश किया। उस व्यक्तिका नाम पं० दुर्गाप्रसाद जोशी था। जोशीजी, पाण्डेयजीकी विशेषताओंसे प्रभावित हुए थे। उन्होंने न केवल

इनकी आर्थिक सहायता की बल्कि इनके हृदयमें हिन्दीका प्रेम भी जगाया। इसके अतिरिक्त कालेजमें पढ़ते समय पाण्डेयजीको स्व० डा० रामचन्द्र शुक्लके समीप आनेका सौभाग्य मिला। वहींपर वे अरबी-फारसीके विद्वान् प्रो० महेशप्रसाद आलिम फाजिलके सम्पर्कमें आये। इस प्रेरणा, शिष्यत्व और सान्निध्यने पाण्डेयजीके जीवनमें वह अग्नि प्रज्वलित की, जिसने उन्हें अध्ययनशील साहित्यिक और लगनशील प्रचारक बना दिया। आचार्य-प्रवर रामचन्द्र शुक्ल, भाषातत्त्वविद् डा० सुनीतिकुमार चटर्जीने क्रमशः उनके इन दोनों रूपोंकी प्रशंसा की है। इन महारथियों-की प्रशंसा स्वयंमें एक ठोस कार्य है।

पाण्डेयजीने भाषाके प्रश्नको लेकर अनेक छोटी-मोटी पुस्तकें हिन्दी, उर्दू और अंग्रेजीमें लिखी हैं। कुछके नाम गिना देना अनुचित न होगा। (१) शासनमें नागरी, (२) हिन्दीकी हिमायत क्यों, (३) हिन्दुस्तानीका रहस्य (४) हिन्दुस्तानीका उद्गम, (५) बिहारकी हिन्दुस्तानी, (६) उर्दूका रहस्य, (७) उर्दूकी उत्पत्ति, (८) हिन्दुस्तानीका भँवर-जाल, (९) भाषाका प्रश्न, (१०) कचहरीकी भाषा और लिपि, (११) मुगल बादशाहोंकी हिन्दी, (१२) ए प्ली फार नागरी लिपि, (१३) काउबैब ऑफ हिन्दुस्तानी, (१४) मुल्ककी जबान और फाजिल मुसलमान आदि। इन पुस्तकोंमें हठ हो सकता है, पक्ष-समर्थन हो सकता है पर साथ ही विपुल सामग्री और अनोखी सूझका भंडार भी है। और जहाँ गहन अध्ययन तथा सत्यशोधनकी भावना हो वहाँ पक्ष-समर्थन और चाहे कुछ भी हो, दुर्भावनासे रहित होता है। पाण्डेयजी सुन्दर निबन्ध-लेखक हैं। वे प्रायः संक्षिप्त होते हैं और इसीलिए सामग्रीसे ठसाठस भरे होते हैं। इनका लेख बहुत सुन्दर है और वे अक्षर बहुत पास-पास बनाते हैं। वास्तवमें पाण्डेयजी 'संक्षिप्तता' से बहुत प्रेम करते हैं।

पाण्डेजी वृद्ध नहीं हैं, वृद्ध दिखाई देते हैं। यद्यपि बाल सफेद हो चले हैं और दाँतोंने भी जवाब दे दिया है तो भी इस वृद्धताका कारण हमारी दृष्टिमें पाण्डित्यका भार अधिक है। आयुकी गणनाके अनुसार

ये कुल ४५ वर्षके हैं। (जन्मतिथि वैशाख शुक्ल ९ रविवार सं० १९६१)। ४५ वर्षका मनुष्य युवा होता है और हम समझते हैं मनुष्यका वास्तविक जीवन ५० के बाद शुरू होता है। हो सकता है पाण्डेयजी भी उस आयुमें वह दृष्टि पावें जो आग्रहको छोड़कर समन्वयका पक्ष ग्रहण करें। हो सकता है···पर हमें इस विवादमें क्या ?. हमें आग्रहसे द्वेष क्यों ? आग्रहमें स्थिरता हो तो वह मूल्यहीन नहीं होता।

दिसम्बर १९४९

पुनश्च, आज जब यह पुस्तक प्रेसमें जा रही है तो मेरा मन भरा आ रहा है। वह तपस्वी आज इस धरतीपर नहीं है। उसकी स्मृति ही शेष रह गई है। इस बीचमें उन्हें देखनेके अनेक अवसर आये। हर अवसरपर उनके प्रति श्रद्धा उमड़ी। कोटा सम्मेलनमें उनकी आँखोंमें आँसू भी देखे। 'वह आँसू सम्मेलनकी मृत्युकी घोषणा कर रहे थे। सचमुच सम्मेलन आज मृतप्राय है। मात्र शरीर बचा है।

पाण्डेयजी जैसे सात्त्विक सरस-विद्वान् अब कहाँ मिलेंगे।

: १३ :

सियारामशरण

१

दिसम्बर १९३७ की बात है। मैं 'जीवन-सुधा' के सम्पादक भाई यशपालसे मिलने उनके कार्यालयमें गया था। बातों बातोंमें वे बोले, "सुनो, आज सियारामशरणजी आये हुए हैं।"

मैंने अचरजसे कहा, "सियारामशरणजी यहाँ हैं?"

"हाँ! आओ, उनसे मिलकर जाना।"

मैं दुविधामें पड़ा—सियारामशरण जितने बड़े कवि, मैं उतना ही छोटा लेखक! न जाने क्यों मेरा जी नहीं किया। मैंने कहा, "मुझे काम है। कल आऊँगा।"

यशपाल बोले, "अरे, ऐसा भी क्या काम है, आओ।"

और मुझे जाना पड़ा। उनके बारेमें तबतक मैं बहुत-कुछ पढ़ चुका था। 'विशाल भारत'में प्रकाशित उनका चित्र तो मुझे बहुत ही प्रभावशाली लगा था—उन्नत ललाट, उदार स्थिर दृष्टि और सबसे अधिक चेहरेका भोलापन! मैंने सोचा—कितना सुन्दर होगा यह कवि! और तब मैंने 'मृण्मयी'की, जो तभी प्रकाशित हुई थी, कविताएँ गुनगुनाते हुए उनके कई मनमोहक चित्र अपने मानस-पटपर खींच डाले। देखा—उनके उन्नत ललाटपर रामानन्दी तिलक है, सिरपर पतली-सी चोटी

हैं, वे सफेद खद्दरका धोती-कुरता पहने हैं, उनकी आँखोंमें···तभी जीनेमें चढ़ते-चढ़ते यशपाल बोल उठे, 'देखिए, मामाजी, विष्णु आये हैं !'

'आइये, आइये'की ध्वनि हुई और मैंने देखा कि जैनेन्द्रजी सामने बैठे हैं। उनके पास ही उकडूँ-से बैठे एक वृद्ध पुरुष कोई पुस्तक या पत्रिका देख रहे हैं। आहट पाकर उन्होंने मेरी ओर देखा और मैंने उन्हें। सहसा मनमें उठा—काल-चक्रके थपेड़े खाया हुआ यह व्यक्ति कितना थक गया है···!

ठीक इसी समय जैनेन्द्रजीने कहा, "आप सियारामशरण हैं।"

बिजली-सी कौंधी। मैंने सँभलकर देखा—ये सियारामशरण···सिया-रामशरण यह ! नहीं ! यह तो उस चित्रकी छाया भी नहीं। सिरपर रूखे, उलझे बालोंका जंगल। मोटे खद्दरका कुरता और घुटनोंतककी धोती और शरीर जैसे जीवन-विहीन, किसी निर्विकार भारसे दबा हुआ !

२

जैनेन्द्रजीने दिल्लीमें जो साहित्य-परिषद् बुलायी थी, उसकी घटना है। संचालक महोदय चाहते थे कि सभापतिके समर्थकोंमें सियारामशरण-जीका नाम रहे। उनसे प्रार्थना की गयी, लेकिन वे तो काँप उठे, 'हम···!' लोगोंने तर्क किया—आपको केवल समर्थन करना है। लेक्चर नहीं देना। वे बोले, "हम तो कभी बोले ही नहीं। कैसे कहेंगे !"

और कहते-कहते वे जैसे काँप-से उठे !

मैंने सोचा, इतना बोदा, इतना कमजोर व्यक्ति ! छिः छिः !!

और उनसे मैंने कहा, "आप खड़े होकर केवल इतना कह दीजिए कि मैं सभापति-पदके लिए श्री मशरूवालाजीके नामका समर्थन करता हूँ। बस !"

उन्होंने यही कहा और मैं देख रहा था—वे एक-एक शब्दपर काँप

रहे थे, उनकी मुद्रा साफ़-साफ़ कह रही थी—हम भी क्या इतने बड़े कामके योग्य हैं।

यह विनम्रता थी या आत्म-निषेध ?

फिर उन दो-तीन दिनोंमें मैं कई बार उनके नजदीक बैठा। बातें कीं, उन्हें देखा, तब जाना कि यह जो व्यक्ति सियारामशरण इतना झुका लगता है, यह निर्बलका झुकना नहीं है, बल्कि यह उस शक्तिशालीका झुकना है जो अपनी शक्तिसे बराबर इनकार किये जा रहा है और जो मानता है कि वह एक क्षुद्र, एक छोटा-सा नगण्य जीव है।

सियारामशरण भोले नहीं हैं। उन्हें कोई ठग नहीं सकता, परन्तु साथ ही वे भी किसीको ठग नहीं सकते। चाहें तब भी नहीं। वे इस विद्यामें कोरे हैं। वे जो कुछ हैं, यह हैं कि उन्हें विश्वास है कि वे कुछ भी नहीं हैं और इसी नकारात्मक अस्तित्वमें उनका बड़प्पन है। इसलिए उनकी क्रान्ति शान्त है और उनका विद्रोह विनयी है।

परन्तु अपनेमें उन्हें जितना अविश्वास जान पड़ता है, दूसरेमें उतना ही विश्वास है। यह प्रकृति आत्म-दानसे उपजी है। इसीसे उनका अपनेमें इतना घोर अविश्वास अखरता नहीं है और दूसरोंमें विश्वास उनके प्रति-श्रद्धा पैदा कर देता है।

सियारामशरण देखनेमें बीसवीं सदीमें वैदिक युगके माडल जान पड़ते हैं, उनकी प्रवृत्ति भी धार्मिक है। यह प्रवृत्ति कभी-कभी बड़ी उग्रतासे जाग पड़ती है, पर उग्रता तो उनके स्वभावमें रह ही नहीं सकती। इसलिए ऐसे समय पीड़ा उन्हें घेर लेती है। बहन सत्यवती मल्लिककी ओरसे दी गयी चाय-पार्टीमें श्री 'अज्ञेय'ने फिल्म लेनेका प्रबन्ध किया तो सियारामशरणजीकी धार्मिक भावना जैसे तड़प उठी, 'वात्स्या-यनजी ! यह क्या करते हैं आप !'

सियारामशरणने अपने जीवनमें बहुत कष्ट उठाये हैं। प्रियजनोंके वियोगकी मानसिक पीड़ा और चिरसंगी दमेकी शारीरिक यातनाने उन्हें

है, वे सफेद खद्दरका धोती-कुरता पहने हैं, उनकी आँखोंमें···तभी जीनेमें चढ़ते-चढ़ते यशपाल बोल उठे, 'देखिए, मामाजी, विष्णु आये हैं।'

'आइये, आइये'की ध्वनि हुई और मैंने देखा कि जैनेन्द्रजी सामने बैठे हैं। उनके पास ही उकड़ूँ-से बैठे एक वृद्ध पुरुष कोई पुस्तक या पत्रिका देख रहे हैं। आहट पाकर उन्होंने मेरी ओर देखा और मैंने उन्हें। सहसा मनमें उठा—काल-चक्रके थपेड़े खाया हुआ यह व्यक्ति कितना थक गया है···!

ठीक इसी समय जैनेन्द्रजीने कहा, "आप सियारामशरण हैं।"

बिजली-सी कौंधी। मैंने सँभलकर देखा—ये सियारामशरण···सियारामशरण यह! नहीं! यह तो उस चित्रकी छाया भी नहीं। सिरपर रूखे, उलझे बालोंका जंगल। मोटे खद्दरका कुरता और घुटनोंतककी धोती और शरीर जैसे जीवन-विहीन, किसी निर्विकार भारसे दबा हुआ!

२

जैनेन्द्रजीने दिल्लीमें जो साहित्य-परिषद् बुलायी थी, उसकी घटना है। संचालक महोदय चाहते थे कि सभापतिके समर्थकोंमें सियारामशरणजीका नाम रहे। उनसे प्रार्थना की गयी, लेकिन वे तो काँप उठे, 'हम···!' लोगोंने तर्क किया—आपको केवल समर्थन करना है। लेक्चर नहीं देना। वे बोले, "हम तो कभी बोले ही नहीं। कैसे कहेंगे!"

और कहते-कहते वे जैसे काँप-से उठे!

मैंने सोचा, इतना बोदा, इतना कमजोर व्यक्ति! छिः छिः!!

और उनसे मैंने कहा, "आप खड़े होकर केवल इतना कह दीजिए कि मैं सभापति-पदके लिए श्री मशरूवालाजीके नामका समर्थन करता हूँ। बस!"

उन्होंने यही कहा और मैं देख रहा था—वे एक-एक शब्दपर काँप

रहे थे, उनकी मुद्रा साफ-साफ कह रही थी—हम भी क्या इतने बड़े क्लासके योग्य हैं।

यह विनम्रता थी या आत्म-निषेध?

फिर उन दो-तीन दिनोंमें मैं कई बार उनके नजदीक बैठा। बातें कीं, उन्हें देखा, तब जाना कि यह जो व्यक्ति सियारामशरण इतना झुका लगता है, यह निर्बलका झुकना नहीं है, बल्कि यह उस शक्तिवालेका झुकना है जो अपनी शक्तिसे बराबर इनकार किये जा रहा है और जो मानता है कि वह एक क्षुद्र, एक छोटा-सा नगण्य जीव है।

सियारामशरण भोले नहीं हैं। उन्हें कोई ठग नहीं सकता, परन्तु साथ ही वे भी किसीको ठग नहीं सकते। चाहें तब भी नहीं। वे इस विद्यामें कोरे हैं। वे जो कुछ हैं, यह है कि उन्हें विश्वास है कि वे कुछ भी नहीं हैं और इसी नकारात्मक अस्तित्वमें उनका बड़प्पन है। इसलिए उनकी क्रान्ति शान्त है और उनका विद्रोह विनयी है।

परन्तु अपनेमें उन्हें जितना अविश्वास जान पड़ता है, दूसरेमें उतना ही विश्वास है। यह प्रकृति आत्म-दानसे उपजी है। इसीसे उनका अपनेमें इतना घोर अविश्वास अखरता नहीं है और दूसरोंमें विश्वास उनके प्रति-श्रद्धा पैदा कर देता है।

सियारामशरण देखनेमें बीसवीं सदीमें वैदिक युगके माडल जान पड़ते हैं, उनकी प्रवृत्ति भी धार्मिक है। यह प्रवृत्ति कभी-कभी बड़ी उग्रतासे जाग पड़ती है, पर उग्रता तो उनके स्वभावमें रह ही नहीं सकती। इसलिए ऐसे समय पीड़ा उन्हें घेर लेती है। बहन सत्यवती मल्लिकको ओरसे दी गयी चाय-पार्टीमें श्री 'अज्ञेय'ने फिल्म लेनेका प्रबन्ध किया तो सियारामशरणजीकी धार्मिक भावना जैसे तड़प उठी, 'वात्स्यायनजी! यह क्या करते हैं आप?'

सियारामशरणने अपने जीवनमें बहुत कष्ट उठाये हैं। प्रियजनोंके वियोगकी मानसिक पीड़ा और चिरसंगी दमेकी शारीरिक यातनाने उन्हें

बरबस तपस्वी बना दिया है। परन्तु इसी व्यथाके भारसे दबकर वे इतने प्रेरणा और प्रोत्साहनसे भर उठे हैं। निस्सन्देह उनके ये अभिशाप जगके लिए वरदान बन गये हैं। "जहाँ पीड़ा है वहाँ पवित्रता है।" यह प्रसिद्ध उक्ति सियारामशरणकी जीवन-रूपी अनुसन्धानशालामें पूरी तरह प्रमाणित हो चुकी है। सियारामशरण विनयी इतने हैं कि यदि कोई उनकी ठीक बातमें दोष निकाले तो वे मान लेंगे—गलती हो सकती है। क्योंकि वे मानते हैं, वे निर्भ्रान्त नहीं हैं। जो निर्भ्रान्त नहीं है, वह कहीं भी गलती कर सकता है! और कोई उनसे कहे कि आपकी अमुक रचना बड़ी सुन्दर है तो क्या कहनेवाला उनको आँखोंसे बहनेवाली तरल कृतज्ञता-को सह सकेगा? लज्जासे उनकी आँखें स्वयं झुक जायँगी। इतनी निश्छलता...इतना आत्म-दान, लेकिन इतना कुछ देकर भी वे स्वयं छूछे रहते हैं।

× × ×

व्यक्ति सियारामशरण जितना झुका है, कवि उतना ही ऊपर-ही-ऊपर उठा जा रहा है। उसने अपनेमें डूबकर वेदनाकी कूचीसे वे चित्र अंकित किये हैं, जिनमें रोजका जीवन है, उपेक्षा है, पीड़ा है, वेदना है, कसक है, पर आरोप कहीं नहीं है, चेतावनी भी नहीं। मात्र संकेत है, जो सीधा हृदयमें जा बैठता है। क्योंकि उसके पीछे स्वयं कविका अनुभव मूर्तिमान् हो उठा है। मानो कवि कहता है कि मुझे देखो और समझो। मेरे मुँहसे मेरी कथा सुननेकी आशा मत करो। इसीसे वे बोलते कम हैं, सुनना ज्यादा चाहते हैं। जीवन या साहित्य, सब जगह वे विशुद्ध मानवतावादी हैं।

सियारामशरणजीकी ज्ञान-पिपासा बड़ी तीव्र है। जन्मजात प्रतिभा न होनेपर भी वे इतने बड़े कवि बन गये हैं। वे कोषके सहारे ही अंग्रेजीके बड़े-बड़े कवियोंकी रचनाएँ पढ़ लेते हैं। एक बार मैं उनसे कह बैठा, "आपका रेखाचित्र लिखनेकी बात जीमें उठी है।"

उन्होंने उत्तर दिया, "बात उठी है तो दबा न दीजिए। किसीके लिए उसका रेखाचित्र एक दर्पणके समान होता है। व्यक्ति अपना चेहरा उसमें देखकर सुधारनेका अवसर पाता है।" आत्म-सुधारकी इस प्रवृत्तिने उन्हें सदा ऊपर उठाया है।

गहन गम्भीर विद्वानोंकी बहसमें, अथवा राजनीतिकी दलदलमें उनका मन नहीं लगता। धारा-सभाका अधिवेशन या नई दिल्लीकी सैर उन्हें अधिक प्रिय है। कवि जो ठहरे! वे मानते हैं कि अज्ञानी रहकर तो वे कुछ सीख सकते हैं। इसी कारण लोग उन्हें गलत समझते हैं और इसी कारण वे बहुत दिनोंसे उपेक्षाके पात्र बने रहे।

बात यह है कि मूलतः सियारामशरणजी बौद्धिक नहीं हैं। उनकी मौलिकता परिश्रम और स्वाध्यायकी मौलिकता है। विनय और श्रद्धाने उनमें स्वाध्यायकी प्रवृत्ति पैदा कर दी है। इसीके द्वारा उनकी प्रतिभाको बल मिला है, बुद्धिसे नहीं। बुद्धिके सहारे वे आत्म-निषेधकी भावनाको नहीं पा सकते थे। बुद्धि अहमको अस्वीकृत नहीं कर सकती और न इकाईको भूलने ही देती है।

परन्तु सियारामशरणकी आत्म-निषेधकी इतनी प्रबल भावनाको लेकर भी बुद्धिसे नफरत नहीं करते। उनका 'नारी' उपन्यास पढ़ मैंने उन्हें अनेक बातोंके साथ लिखा था, "मुझे लगता है कि चिट्ठीवाली बात कुछ उलझनमें फँस गयी है।"

उन्होंने उत्तर दिया, "यह हो सकता है, पर पाठक उलझनमें फँसे, यह तो तुम चाहोगे ही। उलझनमें फँसे बिना वह लेखकको जान ही कैसे सकेगा?" यानी उलझनको सुलझानेके प्रयत्नमें ही पाठक लेखकको पहचानेगा, यह उनका तर्क था। मैंने सोचा—यह आदमी कुछ भी हो, बाहरका नहीं है, अन्दरका है।

× × ×

तो ऐसे हैं सियारामशरणजी, जिन्हें काल-पुरुषने पीड़ाके पालनेमें डालकर खूब झुलाया है। वे शरीरसे जर्जरित और आत्मासे व्यथित हैं,

पर फिर भी क्रोधसे अछूते हैं। वे अखण्ड विद्रोही हैं, पर दाहकतासे रिक्त हैं। रुक-रुककर निकलनेवाली साँसके कारण उनकी वाणी गम्भीर है। वे देखनेमें जरूरतसे ज्यादा ग्रामीण मालूम होते हैं, पर उनका हृदय सौजन्य और सौहार्दसे परिपूर्ण है। उनके नेत्र पीले पड़ गये हैं, पर अनुभूति और अनुराग उनसे बराबर छलकते रहते हैं।

और इसी कारण वे स्वयं एक कुशल कवि, एक कर्मठ कलाकार तथा दूसरोंके लिए साकार प्रेरणा बन गये हैं।



: १४ :

जवाहरलाल नेहरू

१५ अगस्त, १९५० की रात्रि ।

राष्ट्रपति-भवनमें स्वतन्त्रता-दिवस-स्वागत-समारोहका एक दृश्य !

संयुक्त राष्ट्र-समिति द्वारा आयोजित नृत्य-संगीतके बाद जब कलाकारोंका राष्ट्रपतिसे परिचय करानेका अवसर आया तब प्रधान मन्त्री पण्डित नेहरू उनके पास बैठे हुए थे। समारोहके संयोजकने, जिनका दावा था कि परिचय करानेका अधिकार उनका है, कलाकारोंको रंगमंचपर पंक्तिबद्ध खड़े होनेकी आज्ञा दी। संकेत देनेपर भी वह नहीं माने। अभी पंक्ति बनी भी नहीं थी कि सहसा नेहरूजी आवेशमें आकर उठे; बोले–"यह क्या बत्तमीजी है ?"

"जी कलाकारोंको···।"

"कलाकार···कलाकार ! क्या राष्ट्रपति उठकर मंचपर जायँगे ?"

"जी नहीं। संयोजक···।"

वाक्य पूरा होनेसे पूर्व नेहरूजी तड़पे। जो व्यक्ति सामने खड़े थे, उनको जोरका धक्का दिया, 'तुम कौन हो कलाकार···।'

"जी नहीं, जी···।"

"यहाँ क्यों खड़े हो ? तमीज है, कोई तमाशा है ?"

और फिर धक्का ! लेखक दूर जाकर गिरा । संयोजक पिछले द्वारसे जा चुके थे । सभापति, जो आज स्वर्गवासी हैं, उस दिन जैसे लोपांजन गुटके द्वारा उड़ गये थे और पण्डितजी कह रहे थे, "राष्ट्रपतिसे कलाकारोंका परिचय मैं कराऊँगा और कौन करा सकता है ?"

और तबतक कलाकारोंने उन्हें घेर लिया था ।

और नेहरूजी हँस रहे थे ।

× × ×

३ दिसम्बर, १९५०

राष्ट्रपति भवनका एक सवेरा ।

उस दिन राष्ट्रपतिकी वर्षगाँठ थी—स्वतन्त्र भारतके प्रथम राष्ट्रपतिकी वर्षगाँठ । जिसने चाहा उसे आनेकी अनुमति मिली । साढ़े आठ बजे लेखक भी वहाँ पहुँचा । देखा, एक छोटी-सी भीड़ अव्यवस्थित रूपसे उस भवनके विशाल प्रांगणमें बिखरी हुई है । कुछ देर बाद ममताकी मूर्ति बने राष्ट्रपति राजेन्द्र बाबू आये । जनता भूल गई, वह भूल गये, उनके मन्त्री और अङ्गरक्षक भूल गये कि वह राष्ट्रपति हैं । उस क्षण वह देशके दुलारे रजिन्दर बाबू बन गये और जनता "मैं पहले हार डालूँ" की होड़में उनपर पिल पड़ी । अंगरक्षक आये, मन्त्री आये, पर बाढ़ क्या रोके रुकती है ! वे सब हैरान थे कि तभी दूरसे एक कड़कता हुआ स्वर सुन पड़ा, "यह क्या बत्तमीजी है ?"

सहसा देखा—हाथोंमें फूलोंका गुच्छा, गतिमें आवेश और नेत्रोंमें आक्रोश लिये सपरिवार नेहरूजी चले आ रहे हैं ।

भीड़ ऐसे फट गई जैसे ऊपाके आगमनपर पौ फटती है । सबसे पहले पण्डितजीने राष्ट्रपतिका अभिवादन किया और फिर उस विस्तृत

मुगल उपवनमें रविशके साथ-साथ जनताको खड़ा होने और अभिनन्दन करनेका संकेत किया।

सब कुछ हो चुका तो सबसे हँस-हँसकर बातें करने लगे।

× × ×

एक प्रान्तका एक गरीब युवक एक नेताका पत्र लेकर पण्डितजीसे मिलने दिल्ली आया, पर प्रयत्न करनेपर भी वह कोठीमें प्रवेश न पा सका। आखिर निराश युवकने एक दिन आवेशमें आकर उनकी कारको रुकनेका संकेत किया। कार तो नहीं रुकी, पर पुलिसने युवकको अवश्य रोक लिया। कई दिन बाद जब उसकी खोज हुई तब पता लगा कि वह जेलमें है। जेल उसके लिए नई जगह नहीं थी, परन्तु परिस्थितिका व्यंग्य अवश्य क्रूर था। आखिर नेहरूजीको पता लगा। उन्होंने उस अभागे युवकको उसी क्षण मुक्त करनेका आदेश दिया। यही नहीं उसकी शिक्षा-के लिए जितने खर्चकी आवश्यकता थी वह सब अपने पाससे देनेकी उचित व्यवस्था कर दी।

× × ×

एक और दृश्य नेत्रोंमें उभर रहा है। कान्स्टीट्यूशन क्लबकी एक राजनीतिक सभामें भाषण देकर पण्डितजी अपनी कारकी ओर जा रहे थे। अँधेरा हो चला था और सदाकी भाँति उनके आस-पास एक छँटी हुई भीड़ थी—सुन्दर नर-नारियाँ, प्रतिष्ठित नेता और राजदूत। उनकी अँगुली पकड़े साथ-साथ एक बालिका चल रही थी। वह कभी प्यारसे उसका गाल थपथपाते, कभी उसके सिर पर हाथ फेरते। एक बन्धु बोले, "यह बालिका किसी राजदूतकी कन्या है।"

दूसरेने कहा, "उनके किसी प्रियकी बालिका है।"

तीसरे, चौथे और पाँचवेंने भी ऐसा कुछ कहा कि सहसा बालिका नेहरूजीके पाससे दौड़कर हमारी ओर आई। क्षणभर मुड़कर देखा, फिर

दूर भागती चली गयी। जैसे बिजली काँपी। उस क्षण हमने देखा—उस बालिकाके अपर्याप्त वस्त्र तार-तार हो रहे हैं, उसके पैर नंगे हैं, उसकी आँखोंमें कीच भरी है और उसका सिर गंजा है।

वह किसी निर्धन मजदूरकी बालिका थी।

× × ×

ये घटनाएँ स्वयं बोलती हैं और इनकी न कोई सीमा है, न संख्या। एकसे बढ़कर एक शानदार, एकसे बढ़कर एक गिरी हुई। इस क्षण तुष्ट, उस क्षण रुष्ट; इस क्षण असीम करुणासे ओतप्रोत, उस क्षण क्रोधके भयानक उन्मादमें उबलते हुए।

नेहरूजी अद्‌भुत व्यक्ति हैं, अद्‌भुत रूपसे परस्पर विरोधी बातोंके पुंज! सबसे लोकप्रिय पर दलहीन। उनके पीछे चलनेवाला कोई नहीं। उनसे मिलना आसान नहीं है। उनसे बातें करनेमें खतरा है। क्षणभर पहले जिससे वह हँसकर बातें कर रहे होते हैं, दूसरे क्षण आवेशमें आकर उसके गालपर तमाचा मार सकते हैं। वह बच्चोंको असीम स्नेह करते हैं, पर क्रोधावेशमें आकर उन्हीं द्वारा अबोध शिशुके फेंके जानेकी बात भी सुनी है। उनके प्रशंसक बहुत हैं और उनके कटु आलोचक भी कम नहीं हैं, फिर भी जहाँ वह जाते हैं जनता सुधबुध खोकर पागलोंकी भाँति उनके दर्शनोंको टूट पड़ती है।

नेहरूजी सुन्दर हैं। उनके व्यक्तित्वमें आकर्षण है, लेकिन वह दूरी-का आकर्षण है। पतंगा जैसे दीपककी ओर खिंचता है और अपनेको होम देता है, वैसी गाँधी-सी आत्मीयता नेहरूमें नहीं है। नेहरूका आकर्षण सूर्यका आकर्षण है जिसके पास जाना अपनेको जलाना है।

नेहरूजी जनतन्त्रवादी हैं। उन्होंने गाँधीजीतकको विधानवादका पाठ पढ़ाया, लेकिन उनकी नसोंमें आभिजात्यवर्गका रक्त बहता है। उनके स्वभावमें सामन्तवाद बोलता है। वह राजाओंके नामसे चिढ़ते हैं, पर उनका स्वभाव कई बार उनके प्रयत्नोंको पछाड़ देता है। उनका

असंयत क्रोध, उनकी असीम करुणा उसी अभागे सामन्तवादके प्रभाव हैं जिसकी रीढ़ उन्होंने स्वयं तोड़ी है। प्रतिष्ठाकी रक्षा और जीवन-स्तरको ऊँचा करनेकी पुकार उनकी नसोंमें बार-बार आभिजात्य रक्तकी घोषणा करते हैं, उनके आचार-व्यवहार, रहन-सहन, खान-पान, सभीपर आभि-जात्य वर्गकी छाप है। उनका जनतन्त्र पश्चिमका जनतन्त्र है और पश्चिमका जनतन्त्र आभिजात्य वर्गका जनतन्त्र है।

नेहरूजीका जन्म प्राचीमें हुआ, पर वह शत-प्रतिशत पश्चिमकी उपज हैं। वह धर्ममें विश्वास नहीं करते, पर परम धार्मिक गाँधीमें उनकी अपूर्व भक्ति है। वह गाँधीको गुरु मानते हैं, पर गाँधीवाद (गाँधीकी नीति) पर चलनेमें वह अपनेको असमर्थ पाते हैं। उन्होंने भारतमें अंग्रेजी राज्यकी जड़ खोदनेमें जीवनकी पूर्ण शक्ति लगा दी, पर अंग्रेजी भाषा और अंग्रेजियत आज भी उनके सहारे भारतसे चिपकी है।

नेहरूजी न अर्थशास्त्री हैं और न इतिहासके पण्डित। इन दोनों विषयोंके विद्वानोंका दावा है कि नेहरूजीका ज्ञान नितान्त अधूरा है। फिर भी नेहरूजीके कारण ही भारतकी राजनीतिमें अर्थशास्त्रको उचित स्थान मिला और उन्होंने ही 'भारतीय इतिहासकी झलक' जैसी विशाल-काय पुस्तककी रचना की।

नेहरूजीमें न महात्मा गाँधी जैसी एकनिष्ठ दृढ़ता है, न राजाजी जैसी बौद्धिक विचक्षणता, न पटेल जैसी निर्णय करनेकी क्षमता और न राजेन्द्र बाबू जैसी शान्ति और सौम्यता; फिर भी वह भारतके कर्णधार हैं और विश्वके इने-गिने राजनीतिज्ञोंमें उनकी गिनती होती है। वह न रूस-की ओर हैं न अमरीकाकी ओर। वह तीसरे दलमें भी नहीं हैं, पर दलों-के बीच अलिप्त होकर रहनेकी जो शक्ति चाहिए वह भी नेहरूजीमें नहीं है। उनके देशमें नहीं है। वह देशकी उपज हैं। जैसे दूधकी शक्तिका दूसरा नाम मलाई है, उसी तरह देशकी शक्ति नेताके रूपमें प्रकट होती है।

नेहरूजी साम्राज्यवादके शत्रु हैं। वह न तो गाँधीवादी हैं और न साम्यवादी! गाँधीवादियोंकी दृष्टिमें वह यन्त्रवादके उपासक और भारतीयताके विरोधी हैं। साम्यवादी उन्हें कलतक अमरीकी साम्राज्यवादका राजदूत मानते थे। अमरीकावाले समझते हैं कि नेहरूजी भारतको रूसी गुटकी ओर ले जा रहे हैं।

इस विरोधाभासका कोई अन्त नहीं है। लेकिन इमर्सनके इन शब्दोंके अनुसार कि 'महान् होना ही गलत समझा जाना है' नेहरूजीका विरोधाभास किसी गलत-फहमीके कारण नहीं है। वह विरोधाभास उनकी प्रकृतिमें है। लेकिन गाँधीजीने जिन्हें 'हिन्दुस्तानमें अद्वितीय' कहा, अन्तर्राष्ट्रीय जगत्में जो भारतकी शानको दोबाला करनेवाले हैं, वह आखिर ऐसे क्यों हैं? इसका जवाब गाँधीजीके शब्दोंमें ही देना होगा—"बहादुरीमें कोई उनसे बढ़ नहीं सकता और देशमें उनसे आगे कौन जा सकता है! कुछ लोग कहते हैं कि वह जल्दबाज और अधीर हैं; यह तो इस समय एक गुण है। फिर जहाँ उनमें एक वीर योद्धाकी तेजी और अधीरता है, वहाँ राजनीतिकका एक विवेक भी है।...वह स्फटिक मणिकी भाँति पवित्र हैं। उनकी सत्य-शीलता सन्देहके परे है। वह अहिंसक और अनिन्दनीय योद्धा हैं। राष्ट्र उनके हाथमें सुरक्षित है।"

इस पूरे अनुच्छेदको एक शब्दमें यों कहना होगा कि नेहरूजी 'ईमानदार' हैं।

नेहरूजी ईमानदार हैं, इसीलिए वह न गाँधीवादी हैं, न साम्यवादी, न तीसरे दलमें। ईमानदार व्यक्तिका कोई दल नहीं हो सकता।

नेहरूजी ईमानदार हैं, इसीलिए पश्चिमकी शिक्षाके प्रभावसे वह मुक्त नहीं हो सकते, गाँधीजीकी सीख भी वह नहीं भूल सकते। साम्यवादकी बहुत-सी बातें उन्हें अच्छी लगती हैं और अमरीकाकी भी। ईमानदार व्यक्ति किसीकी उपेक्षा नहीं कर सकता। समन्वय उसका आदर्श है।

नेहरूजी ईमानदार हैं, इसलिए वह डिक्टेटर नहीं हो सकते और इसीलिए वह न तो नवनिर्माणके समर्थकोंमें स्फूर्ति और बलिदानकी भावना भर सकते हैं, न उसके विरोधियोंको प्राणदण्ड दे सकते हैं।

नेहरूजी ईमानदार हैं, इसीलिए देश उनके लिए व्याकुल रहता है और इसीलिए उनकी कटुसे कटु आलोचना होती है। पूँजीपति भी उनको कोसते हैं और छोटे-छोटे उद्योग-धन्धोंवाले भी। मिल मालिक भी और मजदूर भी। ईमानदार किसी एकका नहीं हो सकता।

नेहरूजी ईमानदार हैं, इसीलिए वह महान् हैं और इसीलिए वह विरोधाभास हैं। इसीलिए उनमें अद्‌भुत स्फूर्ति, शक्ति और निर्भयता है और इसीलिए वह इतने अस्थिर-मति और अव्यवस्थित हैं।

नेहरूजी ईमानदार हैं इसलिए स्वप्नदर्शी और मानसिक रूपसे अव्यवस्थित होकर भी वह सबसे अधिक योजना और व्यवस्थाकी पुकार लगाते हैं। स्वभावसे अभिजात होकर भी वह जन-सम्पर्कके सबसे बड़े व्यावहारिक समर्थक हैं। जनतामें जैसे उनके प्राण बसते हैं, पर वह जनताका उपयोग नहीं कर पाते। ईमानदार व्यक्ति देना जानता है, लेना नहीं।

नेहरूजी ईमानदार हैं इसीलिए यह निश्चित रूपसे सत्य है कि वह देशको बेचेंगे नहीं, देशकी प्रतिष्ठाको चोट लगाकर किसीसे समझौता नहीं करेंगे। "देश उनके हाथमें सुरक्षित है।"

ईमानदारी ही उनकी शक्ति है, ईमानदारी ही उनकी दुर्बलता है, ईमानदारीके कारण ही यह सब गड़बड़-घोटाला है। कहते हैं राजनीतिक क्षेत्रमें ईमानदार व्यक्ति शहीद हो सकता है, पर शायद पूरी तरह सफल नहीं हो सकता। जान पड़ता है नेहरूजीके भाग्यमें शहादत ही लिखी है, क्योंकि ६३ वर्षकी आयुमें अब वह अपनी प्रकृति न बदल सकेंगे और ईमानदार ही बने रहेंगे। इन्सान ही बने रहेंगे।

लेकिन यह एक विलक्षण बात है कि नेहरूजीने इस मान्यताको भी

निर्मूल कर दिया है। आज घर और बाहर सफलता उनके चरण चूम रही है। जनताकी नैतिक शक्तिके बलपर लगभग तानाशाह बन गये हैं। दुनिया उनकी पूजा करती है क्योंकि वे सफल हैं। दुनिया उन्हें प्यार करती है क्योंकि वे ईमानदार हैं।

नवम्बर १९५२।

: १५ :

एशियाई संस्कृतिके दूत

जिस समय मैं विधान-गृह पहुँचा तो बारह बज चुके थे और मार्चकी धूपमें गरमी पैदा हो गई थी। बससे उतरकर देखा, सामने बरामदेमें भीड़ लगी है। अनेक युवक-युवतियाँ बड़ी तत्परताने कार्यमें व्यस्त हैं पर व्यस्त होकर भी वे प्रसन्न और उत्साहित हैं। मैं आगे बढ़ा तभी कई बरमी और चीनी पाससे निकल गये। फिर कई मंगोल जातिकी नारियाँ आईं और आये सुन्दर गठे हुए कई पुरुष जिनका रंग सफेद था पर चेहरोंपर जलनके दाग नहीं थे। उसी समय मेरे बड़े भाईने मुझे देखा। वे पाण्डीचेरी अरविन्द-आश्रमके डा० इन्द्रसेनके साथ वहाँ काम कर रहे थे। मेरे पास आकर उन्होंने कहा, 'उधर देखो वे तिब्बतके प्रतिनिधि हैं।'

अचरजसे मैं बोला, "सब औरतें हैं।"

'नहीं पुरुष।'

कौतूहल और भी बढ़ा। मैंने देखा—वे भारी डील-डौलके लम्बे-लम्बे व्यक्ति मस्तीसे लड़खड़ाते हुए हमारी ओर चले आ रहे थे जैसे पहाड़ोंपर चलते-चलते उन्हें समतल भूमिपर चलना कठिन मालूम हो रहा है। वे चमकदार लाल-पीले रङ्गके रेशमके लम्बे चोगे पहिने थे। और केशोंकी माँग भारतीय महिलाओंकी तरह नाककी सीधमें निकाली थी। फिर दो गुँथी हुई वेणियोंकी सहायतासे सिरपर बीचो-बीच अपना

धर्मचिह्न नीलम धारण कर रखा था। और कानोंमें एक ओर होल्डरकी तरह लम्बा और पतला आभूषण पहिना था।

'तो ये सब पुरुष हैं !'

'एक स्त्री है।'

'वह जो सुन्दर और युवती है।'

'हाँ वही। यह इस लम्बे और गोरे तिब्बतीकी, जो अनुवादक है, पत्नी है।' युवती गोरी थी और सुकुमार थी। उसने भी लम्बा चोगा पहिना था पर वह हल्का और बाँह-रहित था। कमरमें बैल्ट थी और केश दो वेणियोंमें होकर पीठपर लहरा रहे थे। उसके पैरोंमें ऊँची एड़ीकी सेण्डिल थीं और आँखोंमें कौतूहल भरी मुसकराहट...।

ये थे तांत्रिक लामाओंके प्रतिनिधि जिनका देश आज भी विदेशियोंके लिए बन्द है। भाषाकी कठिनताके कारण हम उनसे विशेष बातें न कर सके। अँगरेजी भी वे हमारी तरह नहीं जानते थे। पर वे बड़े दिलचस्प और आकर्षक व्यक्ति थे। उन्हें ल्हासासे दिल्ली पहुँचनेमें बाइस दिन लगे थे और पोनीसे लेकर वायुयानतकमें उन्होंने सफर किया था। क्या यह उनकी दुनियाके सम्पर्कमें आनेकी भावनाको प्रकट नहीं करता। यद्यपि मैंने देखा उनपर नये युगका प्रभाव था—उन्होंने चोगोंके नीचे पतलून पहिनी थी और पैरोंमें बूट थे फिर भी मुझे लगा—आजकी दुनियातक पहुँचनेके लिए उनके विचारोंको कितनी दूर चलना पड़ेगा।

तब एक बज चुका था और पास ही भोजन-घरमें भीड़ बढ़ने लगी थी। विभिन्न देशोंके व्यक्तियोंको एक ही साथ एक ही प्रकार भोजन करते देखकर मनमें उठा—सभ्यताके ये भेद कितने अर्थहीन हैं? उनमें अधिकांश थे जिन्हें मैं भारतीयोंसे अलग नहीं कर सकता था।

तिब्बत, बर्मा तथा कुछ चीन, हिन्द एशिया, मलाया, नेपाल तथा लंकावालोंको छोड़कर सभीने अँगरेजी पोशाक पहिनी थी। इसीलिए बहुतोंकी राष्ट्रीयताका मुझे तभी पता लगा जब मैंने उनसे बातें कीं। भाषाकी दृष्टिसे वे लोग अधिक राष्ट्रीय थे। बहुत-से व्यक्ति अँग्रेजी बिलकुल नहीं

जानते थे और जो जानते भी थे तो उनका ज्ञान हमारे जैसा नहीं था। यहूदी-दलके मन्त्रीने हमसे कहा था, "हम लोग आप भारतीयोंकी तरह अँगरेजी भली-भाँति नहीं जानते।" अफगान दलके नेता डा० अब्दुल मजीदने तो और भी स्पष्ट शब्दोंमें बताया, "अँगरेजी तो आपकी मातृभाषा है।"

भोजन-घरके सामने लौंज था। उसके विशाल मण्डपमें अनेक सोफे, कुशन और कुरसियाँ सजी थीं। यहींपर प्रतिनिधि बैठते थे और मिलने-वाले व्यक्तियोंसे बातें करते तथा हस्ताक्षर देते थे, मैं जब लौंजमें पहुँचा तो वहाँ बहुत कम लोग थे और वे भी सब भारतीय। तभी सामनेके द्वारसे एक और व्यक्ति अन्दर आया। उसके कन्धे कुछ-कुछ आगेको ओर झुक रहे थे, मस्तक प्रशस्त था और रंग गेहुँएसे अधिक गोरा। उन्होंने बगलमें कुछ किताबें दबाई थीं। मैंने समझा कि ये भी कोई भारतीय हैं। वे हमारे पास आये और अखबार उठाने लगे। भाई साहबको कुछ शंका हुई। पूछा, 'आप…!'

तुरन्त जवाब मिला, 'मैं अफगानिस्तानसे आया हूँ।'

'आपका शुभ नाम, महोदय।'

'हुक्मचन्द।'

हमें खुशी हुई—हुक्मचन्द, अफगानिस्तान—भाई साहबने कहा, 'क्या आप कृपाकर पाँच मिनिट दे सकेंगे?'

'हाँ, हाँ, क्यों नहीं।' उन्होंने कहा और हम लोग वहीं सोफेपर बैठ गये।

बातों-बातोंमें मैंने पूछा, 'आप हिन्दू हैं?'

'जी हाँ!'

पर आपका नाम। अजीब हिज्जे हैं Hokam Tschand…।'

उन्होंने बताया, 'बात यह है कि मैंने पहिले-पहिल बर्लिनमें रोमन अक्षर सीखे थे, इसलिए जर्मनी पारिपाटीके अनुसार हस्ताक्षर करने लगा।

'अफगानिस्तानमें हिन्दुओंकी कैसी दशा है ?'

'ठीक है । हम लोग पूरी तरह स्वतन्त्र हैं ।'

'मुसल्मान मदान्ध तो नहीं हैं । वे आपको सताते तो नहीं ।'

वे दृढ़तासे बोले, 'नहीं, वे बिलकुल मदान्ध नहीं हैं । वे अपने धर्म-पर दृढ़ हैं पर इसका अर्थ दूसरोंपर जुल्म करना नहीं है । वहाँपर हम बहुत थोड़ी संख्यामें हैं । वे यदि जालिम होते तो हमें कभीका नष्ट कर चुके होते ।'

भाई साहबने कहा, 'पर आपका देश अभी भी बहुत पिछड़ा हुआ है ।'

'हाँ, सो तो है । हम लोग गरीब हैं । प्रगतिके लिए हमारे पास पूँजी नहीं है !' क्षणभर रुककर उन्होंने फिर कहा, 'और अफगान विदेशी पूँजी लगवाना पसन्द नहीं करते क्योंकि आप जानते हैं विदेशी पूँजीका अर्थ है विदेशी प्रभुत्व ।'

उनकी बात सच थी मगर प्रगतिके लिए पूँजी नहीं है, इसी कारण देश कबतक पिछड़ा रह सकता है ? इस प्रश्नका समाधान उनके नेता-से बातें करते हुए हुआ । काबुल विश्वविद्यालयके रेक्टर डा० अब्दुल-मजीद अपने पदके अनुरूप प्रभावशाली थे । यद्यपि उनका कद छोटा था परन्तु शरीरकी गठन और वाणीकी दृढ़ता उनकी इस कमीको (यदि वह कमी है) पूरा करती थी । उनका चेहरा लम्बा, पर दृढ़ था । जब हम उनसे मिले तो वे लॉंजमें खड़े थे । अभिवादन और परिचयके बाद हमारे एक साथी आचार्य ऋषिरामजीने उनसे पूछा, 'आपके देशमें सामाजिक सुधारकी क्या अवस्था है ?'

उन्होंने उलटकर प्रश्न किया, 'सामाजिक सुधारसे आपका क्या मतलब है ?'

आचार्यने बताया, 'जिस प्रकार अमानुल्लाने...।'

वाक्य पूरा होते-होते दृढ़तासे और शीघ्रतासे वे बोले, 'उसे सामाजिक सुधार नहीं सामाजिक पतन कहिए ।'

सुनकर हम चौंके पर डाक्टर उसी दृढ़तासे बोलते रहे। उन्होंने एक हाथसे अपना कोट पकड़ा और कहा, 'क्या आप समझते हैं इस कोटको बदलनेसे मेरा सुधार हो सकता है।'

हम उनका आशय समझे। मैंने कहा, 'आप ठीक कहते हैं। पोशाक तो बाहिरी चिह्न है। उसे बदलनेसे सामाजिक सुधार नहीं हो सकता।'

'हाँ', उन्होंने अपनी बात पूरी करते हुए कहा, 'सामाजिक सुधारके लिए शिक्षाकी आवश्यकता है और इसके लिए वे बच्चे थे (He was too young for social reform)।'

फिर उन्होंने अपने देशकी शिक्षाकी प्रगति बताई और भारतके साथ अपने देशके सम्बन्धकी चर्चा करते हुए कहा, 'भारत और अफगानिस्तान-का सांस्कृतिक सम्बन्ध प्रागैतिहासिक युगसे है। दोनों देश एक-दूसरेके ऋणी हैं।'

इसी बीचमें मैंने पूछा, 'आपके देशमें कौन-सी विदेशी भाषा अधिक प्रचलित है?' वे बोले, 'जर्मन, फ्रैंच और इङ्गलिश तीनों बराबर प्रचलित हैं।'

और फिर मेरी ओर देखकर कहा, 'पर आपके देशमें जैसे इङ्गलिश है ऐसी नहीं। आपकी तो यह मातृ-भाषा है। हमारी मातृ-भाषाएं फरसी और पश्तून हैं।'

संस्कृतिके सम्बन्धमें सबसे अधिक बातें हुई थीं मुहम्मद अली खाँ कोहजादसे। वे इतिहासके विद्वान् और काबुल म्यूजियमके डायरेक्टर हैं। वे तनिक लम्बे और पतले व्यक्ति हैं और यह जानते हैं कि कब उन्हें कठोर हो जाना चाहिए। भाई साहबने जब उन्हें 'अरविन्द संदेश'की एक प्रति भेंट की तो सिगरेटका लम्बा कश खींचते हुए उन्होंने कुछ रुखाईसे कहा, 'मैं योगके बारेमें कुछ नहीं जानता। क्या यह मेरे मतलबकी चीज है? मुझे समझाइये।' हमने कहा, 'आप विद्वान् व्यक्ति हैं। आपके कई लेख हमने पढ़े हैं।'

वे मुसकराये, 'मैं तो एक साधारण व्यक्ति हूँ परन्तु मुझे पुराने इतिहाससे प्रेम है। क्या आपने 'आजकल' पढ़ा है?'

भाई साहबने उत्तर दिया, 'हाँ, 'आजकल' पढ़ा है, और 'अफगानिस्तान' भी।' वे फिर मुसकराये और बात श्री अरविन्दको लेकर भारतीय योगपर चल पड़ी। भाई साहबने उन्हें विस्तृत रूपसे योगके अर्थ और इतिहासके सम्बन्धमें बताया। वे बीच-बीचमें प्रश्न करते थे और व्याख्या भी। सच तो यह है वे सब कुछ समझते थे। जब हमने उन्हें बताया कि श्री अरविन्दके योगमें अपनेको पहिचाननेपर विशेष जोर दिया जाता है तो उन्होंने सिगरेटकी राख झाड़ते हुए हमें देखा और धीरेसे पर गम्भीरतासे कहा, 'अपनेको पहिचानना! उसके बाद रह ही क्या जाता है। अपने अन्दर ही तो परमात्मा रहता है।'

उन्हें इस बातका बड़ा दुःख था कि लोग सांस्कृतिक सम्बन्धोंका नारा तो लगाते हैं परन्तु उन्हें पहिचाननेकी कोशिश नहीं करते। फिर मेरी ओर देखकर उन्होंने धीरेसे पूछा, 'क्या आपने अन्तर एशियायी नुमायश देखी है?'

'जी।'

'अफगानिस्तान विभाग देखा है?'

'जी।'

'उसमें, बुद्ध तथा सूर्यकी देवी आदि मूर्तियाँ देखी हैं?'

मेरे 'हाँ' करनेपर उन्होंने कहा, 'मैं उन्हें बड़े परिश्रमसे लाया हूँ परन्तु भारतमें कहीं भी उनकी चर्चा नहीं हुई। आपके पत्रोंमें राजनीतिक द्वन्द्व और मामूली झगड़ोंके किस्से भरे रहते हैं पर उन सम्बन्धोंकी रत्ती भर चर्चा नहीं होती जो विभिन्न देशोंको एक धागेमें बाँधे हुए हैं।'

वे बहुत गलत नहीं थे। हमने उन्हें यह गलती सुधारनेका आश्वासन दिया और प्रार्थना की कि आप हमें इस सम्बन्धमें लेख भेजिए। हम उन्हें छपवायेंगे। हम आपको भेजेंगे, आप उन्हें छापिए। आपका हमारा तो सदाका सम्बन्ध है। उन्होंने सिगरेटका कश खींचा और कहा, 'अफगा-

निस्तानसे सभ्यताका उदय हुआ है। आपके देशकी सभ्यता और संस्कृति हमारे देशकी ऋणी है।' हमने मुसकुराकर कहा, 'हम आपका ऋण चुकायेंगे।'

और फिर साहित्यिक संस्थाओंका पता लेकर हम आगे बढ़ गये। ईरानवाले अलग होटलमें ठहरे थे इस कारण अधिक बातें न कर सके। उनके नेता डा० गुलाम हुसैन सदीगी लम्बे और प्रशस्त ललाट युक्त प्रभावशाली व्यक्ति थे। उन लोगोंका रंग हम लोगोंसे बहुत गोरा था परन्तु अंग्रेजोंकी तरह धब्बोंसे पूर्ण नहीं था। मैंने जब ईरानी साहित्यपर चर्चा करते हुए उनसे कुछ लोगोंके पते पूछे तो उनके एक साथी जरा तीव्रतासे बोले, 'आप यह क्यों जानना चाहते हैं?'

मैंने कहा, 'मैं एक लेखक हूँ और चाहता हूँ आपके देशके लेखकोंसे सम्बन्ध बनाऊँ।' तब उन्होंने मुझे कई नाम बताये और कहा, 'हमारे शिक्षा विभागके प्रकाशनके डायरेक्टरको लिखिए। वे आपको सब सूचनाएँ देंगे।'

डा० सदीगी सम्मेलनमें आये हुए प्रतिनिधियोंमें सबसे सुन्दर बोलते थे। ऐसा लगता था जैसे कविता पढ़ रहे हों। फारसी मधुर भाषा है पर मधुर भाषाको बोलनेवालेका कण्ठ भी मधुर होता है तो अमृत बरसने लगता है। डा० सदीगीने दिल्लीकी जनताको दो बार वही अमृत पिलाया। ईरानकी हास्यमुखी राजकुमारी सफ़ियाह फ़िरोज अपने सौन्दर्य और उससे भी बढ़कर अपने हैटके कारण सम्मेलनके लिए एक आकर्षण थीं। इसी तरह मिस्रकी दोनों कुमारियाँ—कुमारी इदरिस और कुमारी करीमा अली सईद—बड़ी प्रभावशालिनी थीं। वे सुन्दर परन्तु बहुत चञ्चल और मिलिटैण्ट नारियाँ थीं।

कुमारी करीमा तो डा० बर्गमैनको जवाब देनेके कारण प्रसिद्ध हो चुकी थीं। जिन्हें केवल हिन्दुस्तानके मुसलमानोंका परिचय था वे उन्हें किसी भी रूपमें मुसलमान माननेको तैयार नहीं हो सके, न वेश-भूषा, न रूप-रङ्ग, न आचार-व्यवहारमें। वे पूर्णतया पश्चिमके रङ्गमें रँगी हुई

थीं। इसके विपरीत उनके नेता अरब लीगके मुस्तफा मोमिन पक्के मुसलमान मालूम होते थे। वे लाल फेज कैप लगाते थे और उन्होंने छोटी दाढ़ी रखी हुई थी। उनकी आँखोंमें ऐसा कुछ था जो उनकी चतुरताको प्रगट करता था। वे बड़ी आसानीसे बात बचा जाते थे। शायद यह जरूरी था क्योंकि उनको लेकर हमारे प्रेसमें काफी विरोध उठ खड़ा हुआ था। हमसे बातें करते हुए उन्होंने बताया, 'मैं हिन्दू-धर्मके बारेमें बहुत कुछ जानना चाहता हूँ क्योंकि मैं मिस्र लौटकर 'भारतका भविष्य' नामक पुस्तक लिखूँगा।'

तब वे लौंजमें एक कोचपर बैठे थे और बहुत लोग उनसे बात करनेको उत्सुक थे। अपने हाथके कागज मुझे देकर वे आटोग्राफ देने लगे। मैंने देखा—लेख अंग्रेजीमें है और अक्षर पढ़े जाने योग्य हैं। शीर्षक था 'नीलकी घाटीकी एकता।' एकताके उनके तर्क मैं उत्सुकतासे पढ़ने लगा कि वे फिर हमारी ओर मुड़े, 'हाँ तो क्या आप मुझे कुछ किताबें दिला सकेंगे?'

'हाँ, हाँ', भाई साहब बोले, 'मैं आपको कल ही दो किताबें ला दूँगा। और अगले दिन जब हम एक पुस्तक (Hinduism at a glance) लेकर उनके पास गये तो वे भोजन-घरमें बैठे क्रीम सलाद खा रहे थे। पुस्तक देखकर बहुत खुश हुए, बोले, 'इसकी क्या कीमत है।'

भाई साहबने अर्थ भरे शब्दोंमें कहा, 'महोदय! भारत बहुत गरीब देश है।' उन्होंने ऊपर देखा और मुसकुराकर बोले, 'भारत अपने अतिथियोंका सत्कार करना जानता है।'

आगेकी बात कृतज्ञ हँसीमें डूब गई पर चलते समय उन्होंने कहा, 'अब जो किताब मुझे भेजें उनकी कीमत वसूल करना मत भूलिये।' उन्होंने बताया वे अभी भारतमें घूमेंगे। इन लोगोंके प्रतिद्वन्द्वी यहूदी दलके नेता डा० बर्गमैन वृद्ध, विनम्र और मिलनसार व्यक्ति थे। उनका मस्तक प्रशस्त था, उनके नेत्रोंमें विद्वत्ता और स्नेह था। वे धार्मिक पुरुष थे। उनका दल अधिकसे अधिक व्यक्तियोंसे मिलनेकी टोहमें रहता था,

विशेष कर वृद्ध डा० इम्मेन्युल ओल्वेङ्कर तथा नवयुवक मन्त्री याकोव शिमोनी। डा० इम्मेन्युल तो सिरपर रुमाल बाँधे अक्सर लौंजमें ही देखे जाते थे। वे संस्कृत जानते थे और भारतीय साहित्यिकोंके एक हॉलमें उन्होंने 'तत्त्वम् असि'की सुन्दर व्याख्या की थी परन्तु सबसे बढ़कर थे डा० वर्गमैन। सारे प्रतिनिधियोंमें वे ही एक ऐसे व्यक्ति थे जिन्हें भारतके प्राचीन ज्ञान और वैभवसे प्रेम था। उनका ज्ञान सम्पूर्ण था। वे हिब्रू विश्वविद्यालयमें दर्शनके अध्यापक हैं। उन्होंने ही उसके पुस्तकालयको मध्य एशियाका सबसे बड़ा पुस्तकालय बना दिया था। उनसे अनेक बार विभिन्न विषयोंपर बातें हुईं। वे हमारी सभामें अपने साहित्यपर 'टाक' देनेको प्रस्तुत थे पर करफ्यूके कारण ऐसा न हो सका। उन्होंने हमें लेख भेजनेकी प्रतिज्ञा की और हमसे भी कहा, 'आप अपने साहित्यपर एक गवेषणापूर्ण लेख मुझे भेजिए। मैं पुरातन धार्मिक वृत्तियोंको पुनर्जीवित करना चाहता हूँ।'

सुनकर हमें अचरज हुआ। हमारे साहित्यकी अवस्था भी ठीक ऐसी है। यद्यपि हम आधुनिक धाराके समर्थक थे तो भी हम डा० वर्गमैनकी सचाई और सभ्यतासे प्रभावित हुए। हमें लगा हम अपने ही देशके किसी वृद्ध सज्जनसे विचार-विनिमय कर रहे हैं। अन्तर केवल इतना था कि उन बातोंमें अपनावका कड़ुवापन नहीं आया था।

सोवियत एशियाके पाँच प्रजातंत्रों अर्मीनिया, जार्जिया, अजरबैजान, उजबेकिस्तान तथा ताजिकिस्तानके प्रतिनिधि जनतामें सबसे अधिक लोकप्रिय थे। वे प्रायः सभी अङ्गरेजीसे अपरिचित थे तो भी कई प्रतिनिधि टूटी-फूटी अङ्गरेजीमें ही अपना भाव व्यक्त करनेकी कोशिश करते थे। यद्यपि वे प्रायः सभी पश्चिमी ढंगके कपड़े पहिनते थे परन्तु सादगी उनका विशेष गुण था। व्यवहारमें भी वे प्रायः उतने ही निश्छल थे। आर्मीनियाके प्रतिनिधिके भाषणका उल्था करते हुए उनकी अनुवादिकाने कई बार रुककर वक्तासे उनका आशय समझा। जनता ताली पीटने लगी पर वह निहायत सौम्यतासे अनुवाद करती रही। उसके मुखपर जो वालोचित

सरलता थी वह बड़ी आकर्षक थी। उसमें न अहम् था न चंचलता। उसी प्रकार ताजिकिस्तानकी नेत्री मादाम तैरोवा थी। उनके बाल रूखे थे, उनकी वेशभूषा साधारण थी पर उनका व्यवहार नम्र और आडम्बरहीन था। कृतज्ञता प्रगट करते हुए जब वे पूर्वीय परम्पराके अनुसार झुकते थे तो उनकी मुद्रा बड़ी भव्य, बड़ी प्यारी लगती थी। वह अब भी मेरी आँखोंमें घूम रही है। सौभाग्यसे जार्जियाके प्रतिनिधि प्रो० आखलेदियानीसे बातें करते समय पाँडीचेरी आश्रमके डा० इन्द्रसेन, जो सांस्कृतिक ग्रुपके सदस्य भी थे, हमारे साथ थे। वे जर्मन जानते थे और उन्होंने प्रोफेसरसे जर्मन भाषामें बहुत देरतक योगपर बातें कीं। प्रोफेसर संस्कृत जानते हैं और शकुन्तलाका जार्जियनमें अनुवाद कर रहे हैं। उसके बाद महाभारतका अनुवाद करेंगे। वे मिलनसार और खुले दिलके व्यक्ति थे। संस्कृतकी शुद्धतापर उनका ध्यान हमसे कहीं अधिक था। हमने श्री को अंगरेजीमें जब इस प्रकार Sri लिखा तो वे न समझ सके। जब हमने उन्हें समझाया तो वे व्यंग्यसे मुसकराये और फुर्तीसे उन्होंने काटकर लिखा Shri ! हम मन-ही-मन लजा उठे। जार्जियाके सम्बन्धमें बातें करते-करते वे एक बार खुलकर हँसे। बोले, 'श्रीमती सरोजनी नायडू मुझसे कह रहीं थीं कि पुराने हिन्दुस्तानी जार्जियामें वहाँसे सुन्दरी नारियाँ लेनेके लिए जाया करते थे। और वे ठीक कह रही थीं। हमारा देश है ही सुन्दर नर-नारियोंका देश। फ्रेन्च-कोषमें तो जार्जियाका अर्थ लिखा है—सुन्दर नर-नारियोंका देश।'

फिर क्षणभर रुककर कहा, 'पं० नेहरूका रूप-रंग ठीक हम जार्जिया-वालों जैसा है। वे जार्जियन हैं।'

मैंने सोचा पण्डितजी जो इतने अन्तर्राष्ट्रीय हैं उसका शायद यही कारण है। जन्मसे वे भारतीय हैं, शिक्षाके नाते अंगरेज तथा रूप-रंगमें जार्जियन और उस दिन उजबेक प्रतिनिधिने उन्हें अपनी पोशाक पहिना-कर उजबेक बना दिया था।

सम्मेलनके सभी प्रतिनिधियोंमें हमें चीनके प्रतिनिधि सबसे अधिक चञ्चल और फुर्तीले लगे। उनकी आँखोंमें हँसी थी जो बचपनसे पूर्ण थी, शरारत वह जो बच्चोंमें होती है यानी नटखट। जब देखो इधरसे उधर कूदते खेलते हुए। वे अधिकतर अंग्रेजी पोशाक पहिनते थे। एक चीनी नारी तो परियोंकी तरह फैशनेबल पोशाक पहने थी। वह सबसे आकर्षक थी। कुछ लोग अपनी राष्ट्रीय पोशाक भी पहने थे परन्तु विदेशी विभागके अधिकारी कभी भारतीय लम्बा कोट पहिन आते तो कभी गांधी टोपी लगा आते। वह उन्हें खूब फबती थी। वस्तुतः ये लोग सबसे अधिक अपनावकी भावना प्रगट कर रहे थे। उन लोगोंमें हमारी सबसे अधिक बातें हुईं—प्रो० तानयुन शानसे जो शान्ति-निकेतनमें चीना-भवनके डायरेक्टर हैं। उन सबके विरोधमें वे परम सौम्य और शान्त जान पड़े। भाई साहब उनसे शान्तिनिकेतनमें मिल चुके थे इसीलिए हमारी बातें संस्कृति और योगके आगे नहीं बढ़ीं।

बाहिरी मंगोलियावालोंसे रूसी अनुवादक द्वारा बातें हुईं। वे अंग्रेजी पोशाकमें थे पर अंग्रेजी भाषा बिलकुल नहीं जानते थे। भारतके सम्बन्धमें उन्होंने काफी दिलचस्पी दिखाई और बताया उनकी भाषामें विशेष साहित्य नहीं है तथा उनकी भाषा और लिपिका चीनी भाषा और लिपिसे कोई सम्बन्ध नही है।

नेपालवालोंसे बातें करते हुए हम भूल बैठे कि वे भारतीय हैं। बातों ही बातोंमें जब हमने कहा, 'आपने चित्तरंजनदासका नाम सुना होगा। वे बंगाल...।' बात काटकर सरदार नरेन्द्रमणि दीक्षितने कहा, 'क्या आप समझते हैं हम बाहिरी मंगोलियामे आये हैं।' यह करारा तमाचा था। उसकी चोट हमने कृतज्ञ होकर सही। इसी बातको ले० कर्नल संग नरसिंह रानाने और भी दृढ़तासे कहा, 'हम भारतीय हैं और हमें भारतीय होनेका गर्व है।' वे लोग हिन्दू थे, हिन्दी जानते थे। उन्होंने भारतमें शिक्षा पाई थी। वे अपनी काली टोपी, कमीजसे ऊपर रहनेवाले कोट और तंग

पाजामेमें सचमुच वीर पुरुष लगते थे। ईरानी प्रतिनिधिको छोड़कर इनके नेता श्री विजय शमशेर जंगबहादुर राना सबसे सुन्दर और प्रभावशाली वक्ता थे। उनकी अपनी भाषा लगभग शुद्ध संस्कृतमयी हिन्दी थी तथा अंग्रेजीपर उनका असाधारण अधिकार था। श्री चन्द्र कालेजके प्रिन्सिपल सरदार रुद्रराज पाण्डे तथा प्रो० रत्नबहादुर दीक्षितसे बातें करनेपर पता लगा कि उनका साहित्य यद्यपि विशेष उन्नत नहीं है तो भी यथेष्ट जाग्रत है। कई समितियाँ काम कर रही हैं और कई पत्र निकलते हैं। हमें लगा जैसे-जैसे राजनीतिक जाग्रति होगी तैसे-तैसे उनका साहित्य भी उन्नति करेगा।

भूटानकी भाषा यद्यपि तिब्बतसे प्रभावित है परन्तु सभ्यताकी दृष्टिसे वह भारतीय हिन्दू हैं। साहित्य लगभग शून्य है। इस देशके दो निरीक्षक आये थे। महाराजकी बहिन विदेशी प्रभावमें थीं। उनके पुत्र श्री डोरजी कभी-कभी राष्ट्रीय पोशाकमें भी आते थे और सुन्दर लगते थे। वे सुदृढ़ और गतिशील जान पड़े। वे हिन्दी जानते थे और बोलते थे।

बरमा अभीतक भारतका अंग था। बर्मी दलके नेता जस्टिस क्यामिण्ट भारतीय धारा सभाके सदस्य थे। वे ठिगने, फुर्तीले और हँसमुख व्यक्ति थे और न जाने कितनी बार उन्होंने कहा, 'मैं तो आधा भारतीय हूँ।' परन्तु उन्होंने दूसरी बार कहा, 'इस बार भारतमें मैं एक परिवर्तन देख रहा हूँ। लोग आजादीको आते देख रहे हैं और उसके स्वागतको उत्सुक हैं।'

उनके दलमें कई साहित्यिक व्यक्ति थे। रंगून विश्वविद्यालयके पुस्तकाध्यक्ष तथा कवि उथीन हानसे हम कई बार मिले। वे संस्कृत जानते थे और भारतीय साहित्यके बारेमें अधिकसे अधिक जाननेको आतुर थे। उन्होंने बताया कि उनका साहित्य न श्रेष्ठतामें और न सम्पन्नतामें गर्व करने योग्य है। उसका सारा आधार जातक कथाएँ हैं।

मैंने पूछा, 'क्या आपके यहाँ प्रगतिवाद नहीं है?'

उन्होंने कहा, 'है तो पर वह कम्युनिस्टोंसे प्रभावित है। वे भी काफी परिमाणमें साहित्य पैदा करते हैं। न जाने उन्हें कैसे कहाँसे मिलता है।'

वे शिकायत नहीं कर रहे थे परन्तु फिर भी मुझे लगा यह कहीं नहीं प्रश्न सबके सामने क्यों आता है। क्या प्रकृतिके डरसे। आगे चलकर उन्होंने एक बात और बताई कि विश्वविद्यालयके लोग अपनेको अधिक चतुर और योग्य मानते हैं और दुःख यह है अक्सर साहित्यिक लोग भी इस भावके शिकार हो जाते हैं। उन्होंने कहा, 'साहित्यिक होनेके लिए विश्वविद्यालयकी शिक्षा अनावश्यक है।' वे ठीक कह रहे थे। इसी प्रकार सम्मेलनके विषयमें उन्होंने बताया, 'भारतने हमें बीज दिये हैं। हमें चाहिये अब हम उन्हें अपने-अपने देशमें जाकर बो दें जिनसे आगे चल-कर सुन्दर और सुदृढ़ वृक्ष पैदा हों।' लेकिन आगे चलकर उन्होंने यह डर प्रगट किया कि एशियाके देश पाँच ग्रूपोंमें बँटते जा रहे हैं। चीन और भारत स्वयं दो ग्रूप हैं। तीसरा ग्रूप सोवियत प्रजातन्त्रोंका है, चौथा अरब लीगवाला ग्रूप और पाँचवें ग्रूपमें दक्षिण-पूर्वके देश हैं। उन्होंने कहा, 'संस्कृतिकी दृष्टिसे यह बँटवारा तभीतक ठीक है जबतक एकताका धागा दृढ़ होता है। हमें लगा कि उनके अनुभवमें शक्ति है। बर्मी लोग वैसे शान्त, रिजर्व और विनम्र प्रतीत हुए। प्रायः सभी लोग राष्ट्रीय पोशाक पहिनते थे। बर्मामें भारतीयोंकी अवस्थापर बातें चलनेपर उन्होंने विस्तारसे बताया था, 'जो विरोध आज दिखाई देता है वह स्थायी नहीं है। आजादी प्राप्त हो जानेपर वह नहीं टिकेगा।'

मलाया प्रतिनिधि दलके नेता डा० बुरहानउद्दीनने अपने भाषणमें कहा, 'विभिन्न देशोंकी नदियाँ भारत महासागरमें आ मिली हैं।' यह बात बहुत लोकप्रिय हुई। इनके साथ हिन्दू, मुसलमान, लङ्कावासी तथा चीनी सभी आये थे। इन सबमें सबसे अधिक आकर्षक थे ब्रह्मचारी कैलाशम। लम्बे, शान्त और गम्भीर सफेद लम्बे कुरते और सफेद दुपल्ली टोपीमें वे अपने साधु जीवनके अनुरूप लगते थे। वे मलायामें भारतीय दलके प्राण हैं। बातें करते हुए कहने लगे, 'मुझे शिक्षा, समाज.

राजनीति सभी प्रश्नोंको देखना पड़ता है। बहुत व्यस्त रहता हूँ। हाथ बँटानेको आदमी नहीं मिलते। तब कैसे लिखूँ।' मैंने कहा, 'आदमियोंसे आपका मतलब भारतीयोंसे है?'

'हाँ।'

तब भाई साहबने कहा, 'जिस प्रकार दक्षिण अफ्रीकासे गाँधीजी भारतीय कार्यकर्ताओंको लेने आये थे, क्या उसी प्रकार आप भी ले जाना चाहते हैं?' मुसकराकर उन्होंने उत्तर दिया, 'कोशिश तो कर रहा हूँ।'

उन लोगोंपर आजाद हिन्द फौजका प्रभाव काफी गहरा था। उन्होंने बताया, 'हम भारतीय लोग अभिवादन आदिके अवसरपर सदा जयहिन्दका प्रयोग करते हैं।'

श्याम प्रतिनिधि दलके नेता फाया अनुमान एकान्तप्रिय थे। अचानक बरामदेमें बात होनेपर उन्होंने कहा 'यहाँ शोर रहता है मुझे शोर पसन्द नहीं है।' परन्तु बातें होनेपर उन्होंने बताया, 'आपसे अधिक हम आपकी संस्कृतिके रक्षक हैं। हम अब भी अभिवादनके समय हाथ जोड़कर नमस्कार करते हैं। स्वस्तिकाका प्रयोग करते हैं। विवाहकी रीति भिन्न है, परन्तु मण्डप उसी तरह बनाते हैं।' फिर बोले, 'हमारी भाषा भी संस्कृतिसे प्रभावित है। मेरा नाम मूलमें संस्कृत नाम है 'अनुमान राजधन'। इनका श्यामी उच्चारण 'अनुमान रचथोन' है।' वस्तुतः ये भारतीय संस्कृतिके प्रेमी थे। इन्होंने पुराने कथा-साहित्यका अनुवाद किया है तथा भारत-श्याम संस्कृतिके सम्बन्धके लिए थाया—भारत लाजमें बहुत काम किया है। वे ललित कला विभागके डायरेक्टर-जनरल हैं। इसी दलकी कुमारी चोले कंचन गोप स्वामी सत्यानन्दकी शिष्या हैं और हिन्दी संस्कृत जानती हैं।

सम्मेलनमें नये प्रजातन्त्र हिन्द-एशियाका दल सबसे बड़ा था। वे लोग यद्यपि नाटे थे, परन्तु चतुर, स्फूर्तिसे पूर्ण और प्रभावशाली थे। उनमें कुछ लोग बिल्कुल बात नहीं करते थे, परन्तु कुछ थे जो हर समय बातें करते देखे जाते थे। इनमें सबसे अधिक लोकप्रिय थे बूढ़े, नाटे

और पतले हाजी सलीम। उनकी दाढ़ी और टोपी उनके मुसलमान होनेकी साक्षी थी। वे विदेशी मामलोंके विभागके वाइस प्रेसिडेन्ट थे। इसीलिए हँसमुख और वाकपटु थे। रक्षा विभागके सज्जन मोटे थे और बातें नहीं करते थे। सूचना-विभाग एक नारीके हाथमें था जो सुन्दर, विनम्र और बातें करनेमें चतुर थीं। उनके नेता डा० अबुहनीफा मुस्लिम दलके नेता थे। वे भी राजनीतिपर बातें करनेसे कतराते थे। वैसे वे हँस-मुख और स्पष्ट व्यक्ति थे। वे सम्मेलनके भविष्यके बारे आशावादी थे और अपने देशके बारेमें भी। मैंने कहा, 'अभी-अभी डच सरकारसे आपका जो समझौता हुआ है, वह आपके लम्बे मार्गकी पहली सफलता है।'

वे मुसकराये, 'हाँ यह है।'

फिर न जाने कैसे मेरे मुँहसे निकल गया, 'आप संघ-शासन क्यों नहीं चाहते।' इसपर उन्होंने तेजीसे मेरी ओर देखा और तीव्रतासे उसी तरह मुसकराते हुए कहा, 'आपके देशको यदि दस हिस्सोंमें बाँट दिया जावे तो क्या आप उसे पसन्द करेंगे। हम भी नहीं करते और न करेंगे।'

कहते-कहते उनकी आँखें चमक उठीं। मैं उनसे बहस करना चाहता था पर सहसा वे उठे, हाथ मिलाया और क्षमा माँगकर चले गये। कहा, 'आई दोन्त त्रस्त प्रेस (I dont trust press)।' मैं कुछ देर समझ भी नहीं सका। समझा तो मुझे हँसी आ गयी! ये ही डा० हनीफा कई दिन पहिले हमारे लिए बड़ी तत्परतासे अपने देशके लेखकोंकी लिस्ट बना रहे थे। बीचमें सिगरेटका कश खींचकर बोले, 'मैं भी तो लेखक हूँ। ड्रामे लिखता हूँ।'

'तो अपना नाम लिख दीजिये।'

और उन्होंने अपना नाम भी लिख दिया। लंका प्रतिनिधि मण्डलके किसी सदस्यको मैं नहीं पहिचान सका। वे मुझे दक्षिणभारतीयोंसे अलग नहीं लगे। श्री विजय तुङ्ग, जो सरकारी प्रतिनिधि तो नहीं थे, परन्तु वैसे

: १३ :

काश्मीर-क्रांतिके ये सैनिक

१. वृद्ध कवि

उसका पूरा नाम मैं नहीं जानता परन्तु जनता उसे कवि आसीके नामसे पुकारती है। वह जीवनके अन्तिम दिनोंमें गुजर रहा है परन्तु उसकी सृजन-शक्तिपर आयुका तनिक भी प्रभाव नहीं पड़ता है। आश्चर्यजनक बात यह है कि उसने पहिला शेर आजसे (१९४८) कुल चार-पाँच वर्ष पहिले लिखा था। कहा जाता है—यौवनके प्रभातमें सभी कवि होते हैं परन्तु इसके बारेमें बात बिल्कुल उल्टी है। वह बुढ़ापेके आरम्भमें कविता करने लगा है। इससे भी अधिक हैरतअंगेज बात यह है कि वह मजदूर है, कलमका नहीं, वह पीठपर बोझा ढोनेवाला मजदूर है। एक दिन राज्यकी अतिथिशालासे जन-आन्दोलनके केन्द्र 'नुमायश' में जाते समय मैंने उसे मुख्य बाजारकी पटरीपर खड़े देखा। सोचा वह किसीकी राह देख रहा है। नमस्कारके बाद मैंने पूछा, 'आप यहाँ क्या कर रहे हैं?'

शान्तमन उसने जवाब दिया, 'मजदूरी।'

'क्या मतलब?'

वह मुसकराया, 'जनाब! मैं मजदूर हूँ, झल्ली ढोता हूँ।' अचरजसे मैंने उसे देखा। मैं जानता था—वह कवि है परन्तु वह कहता है—वह मजदूर है। हम दोनों ठीक थे, वह कवि भी है और मजदूर भी। उसने मजदूरी करके कविका गौरव बढ़ाया है पर तभी मैं पूछ बैठा

'आप कविता कब करते हैं ?' उसने उसी तरह कहा, 'मैं कविता नहीं करता, वह उमड़ती है, जब छन्द फूटते हैं तो ठेकेदारकी दुकानमें बैठकर उन्हें कागजपर लिख लेता हूँ।'

मैंने जब पहिली बार उसे देखा तो वह उषा—बलराज सहानीकी पत्नीके साथ ख्वाजा अहमद अब्बाससे मिलनेके लिए हमारे अतिथि-गृहमें आया था। आहट पाकर जब मैंने द्वार खोला तो देखा—गरम फिरन और ऊँची सिलवार पहिने, एक गठा हुआ, ठिगना वृद्ध पुरुष मेरे सामने खड़ा है। उसके मुखपर झुर्रियाँ गहरी हो चली हैं परन्तु आँखोंसे उत्साह उमड़ा पड़ता है। उसके कान बड़े हैं, मस्तक विशाल तथा डाढ़ी छोटी है।

'जी आइए', मैंने मात्र शिष्टाचारके लहजेमें कहा।

उषा बोली, 'ये कवि आसी हैं।'

'ओ'—मैं मुसकराया और मैंने उस देहाती कविको एक बार फिर प्रणाम किया। वह मजदूरोंका कवि कहलाता है। उसका रूप-रंग, वेश-भूषा सभी मजदूरोंके समान है। यहाँतक कि उसके भौंडी किस्मके जूतोंमें मोटी-मोटी कीलें और तरनाल जड़ी रहती हैं परन्तु जब उससे बातें करते हैं तो उसकी मीठी वाणी मनको पकड़ लेती है। कविता सुनते समय तो ऐसा लगता है जैसे पुरातन पुरुषका यौवन लौट आया है।

देशकी आजादीके लिए लड़नेवाली नैशनल कान्फ्रेन्सका वह एक विनम्र सेवक है और परिणामस्वरूप पिछले "काश्मीर छोड़ो" आन्दोलनमें तीन माह जेलमें बिता चुका है। जेलमें भी उसके दिलमें वतनका दर्द टीसता रहा है और उसी टीसमेंसे ये छन्द फूट पड़े हैं—

ऐ कब्बे बता मेरा वतन आजाद हुआ कि नहीं,
दुश्मन अपना जहाज लेकर चला गया कि नहीं,
मेरे कानोंपर जुल्मका भारी बोझ है—
तू बता फौलादका पंजा छूटा कि नहीं॥

एक दिन आया जब वे सब जेलसे छोड़ दिये गये परन्तु जो आज़ादी उन्हें मिली वह लँगड़ी थी। वह पहलेकी तरह बोलना ठीक नहीं समझते परन्तु अपनी कवितामें उसने जनताकी भावनाको मूर्तरूप दिया। उसने पुकार की—

"अब वक्त आ गया है कि तानेशाही मजदूरके सिरपर न रहे।"

आज काश्मीरकी रमणीक घाटी इसी प्रकारकी प्रतिध्वनिसे गूँज उठी है। और मजदूरोंका यह बूढ़ा कवि आजादीके युद्धमें अपना योगदान देनेके लिए जी जानसे जुटा हुआ है।

२. प्रौढ़ लेखक[1]

उस दिन मेरे साथी काश्मीरके प्रसिद्ध लेखक प्रेमनाथ परदेसीको खोज रहे थे। नुमायशके विशाल प्रांगणमें, जहाँ देशके युवक युद्ध-सञ्चालन-की शिक्षा लिया करते हैं, हमने उनकी विशालकाय मूर्तिको चारों ओर देखा पर वे नहीं मिले। हम लौटनेवाले थे कि मेरे साथी बोल उठे, 'अरे वे रहे।'

मैं मुड़ा, 'किधर ?'

'उधर', साथीने संकेत किया और उसी ओर बढ़ गये। मेरे आश्चर्य-का ठिकाना नहीं रहा जब मैंने देखा—उन्होंने राष्ट्रीय सेनाके सैनिककी वर्दी पहिनी है और कन्धेपर राइफल लटकायी है। मैंने हँसकर कहा, 'कहिये लेखक महोदय ! यह क्या रूप धारण किया है !'

वे मुसकराये, 'देशका प्रत्येक नागरिक सैनिक होता है। मैं भी एक सैनिक हूँ। इसमें अचरजकी क्या बात है ?'

तब मुझे स्पेन और रूस देशोंकी याद आ गयी। वहाँके कवि और

---

१. खेद है आसी और परदेसी आज दोनों धरतीके स्वर्गको छोड़कर आकाशके स्वर्गमें जा विराजे हैं पर अपने वतनको वे आजाद देख गये हैं।

कथाकार मजदूरोंके साथ कन्धे-से-कन्धा भिड़ाकर आजादीका युद्ध लड़े थे। वे उस वेशमें बड़े विचित्र जान पड़ रहे थे। अधिकांश काश्मीरियोंकी तरह उनका कद लम्बा और रंग रक्तिम गौर है। वे लम्बा कोट पहिनते हैं और उनका दुपट्टा उनके प्रशस्त ललाटको ढकता हुआ नासिकातक आया रहता है। अपने चश्मेके साथ वे ठीक एक लेखक जैसे लगते हैं। वे एक सफल लेखक हैं और उनकी रचनाओंमें काश्मीरके वास्तविक जन-जीवनके दर्शन होते हैं। उनके कई कहानी संग्रह तथा लगभग दस पुस्तकें बच्चोंके सम्बन्धमें प्रकाशित हो चुकी हैं। उनके चित्रोंमें वर्णन और वेदनाका अपूर्व सम्मिश्रण है इसीलिए उनकी कहानियाँ बहुधा चित्र बनकर रह जाती हैं और इसीलिए उनका प्रभाव भी बढ़ जाता है। वे नाटककार भी हैं और काश्मीरी युद्धके अमर शहीद शेरवानीको लेकर उन्होंने एक सुन्दर नाटक लिखा है। वह नाटक श्रीनगरमें खेला जा चुका है।

परदेशी काश्मीर युद्धके सांस्कृतिक मोर्चेके एक स्तम्भ हैं और पीर अब्दुल अहमदके साथ जनतामें जागृति और उत्साहकी लौ निरन्तर ऊँची करनेका प्रयत्न कर रहे हैं। इससे पहिले वे कस्टम विभागमें काम करते थे पर उनकी नियुक्ति सांस्कृतिक मोर्चेपर हो गयी है। वहीं वे साहित्यसेवाकी देवीका आह्वान किया करते हैं। सांस्कृतिक मोर्चेकी साहित्यिक गोष्ठियोंमें उन्होंने उन सात दिनोंकी रिपोर्ट उपस्थित की थी जिन दिनों काश्मीरपर कबायलियोंने आक्रमण किया था। वह रिपोर्ट एक सुन्दर शब्दचित्र है। परदेशी कवि भी हैं और उनका निम्नलिखित कोरस काफी प्रसिद्ध हुआ है :—

आये चन्द लुटेरे, देखो आये चन्द लुटेरे,
जब धरतीने अपनी छातीसे सोना उघराया,
एक सुबह सबेरे तब आये चन्द लुटेरे,
देखो आये चन्द लुटेरे,

कलम और राइफलका यह योगदान काश्मीरके युद्धक्षेत्रमें एक अद्भुत प्रयोग है। उसकी सफलतापर काश्मीर ही नहीं विश्वकी भाग्य रेखाका निर्णय हो सकता है।

३. युवक अभिनेता

वह एक अच्छा गायक और अभिनेता है। कबायलीके रूपमें जिन्होंने उसका अभिनय देखा है वे मुक्त कण्ठसे उसकी प्रशंसा करते हैं। साहित्य गोष्ठीमें जब वह परदेशीका गीत गा रहा था तो उसकी मुद्रा देखते बनती थी। उसके पास काश्मीरका प्रसिद्ध वाद्य यन्त्र 'तुम्बक नारी' नहीं था परन्तु वह स्टूलसे ही काम ले रहा था, उसके नेत्र बन्द थे और ग्रीवा स्वरकी तालपर झूम-झूम उठती थी। उसके सुरीले स्वरमें मादकता थी. दर्द था और वह धीरे-धीरे ऊपर उठती हुई श्रोताओंके हृदयमें उमंगकी हिलोरें पैदा कर देती थी। वह तन्मयता और आराधनाका अद्भुत वातावरण था।

वह सुन्दर युवक है। उसका कद लम्बा है और रंग रक्तिम गौर। ललाट प्रशस्त है और नेत्र भावपूर्ण। वह लम्बे ओवरकोट और बालों-वाली टोपीमें उन प्राचीन आर्योंका प्रतिनिधि जान पड़ता है जो एक दिन वोल्गासे गंगातक फैले हुए थे। अन्तर केवल इतना है कि तीरकमानके स्थानपर उसने कन्धेपर राइफल डाली हुई है।

वह न अनपढ़ है, न अर्द्ध शिक्षित। लखनऊमें रहकर उसने साहित्य, विज्ञान और कानूनकी ऊँची परीक्षाएँ पास की हैं। वह एम० ए०, एम० एस-सी०, एल-एल० बी० है परन्तु उसे विद्याका अभिमान नहीं है। वह देशकी सेवा करना चाहता है। मैंने जब उससे बातें कीं तो उसने मुक्त हृदयसे अपनी योजनायें खोलकर रख दीं। वह अपने देशकी वास्तविक स्थितिको जानता है। वह काक परिवारके सम्पर्कमें रहा है और श्रीजिन्नाके निजी मंत्री खुर्शीदका मित्र है। परिस्थितिने उन्हें आज एक-दूसरेका

विरोधी बना दिया है। यही विरोध व्यक्तिके ऊपर राष्ट्रकी विजय है। वह इस परिस्थितिसे दुखी नहीं है। वह अपने देशको प्रेम करता है और कुछ करनेके लिए आतुर है। वह चाहता है राज्यका प्रत्येक हिन्दू देशके लिए मर मिटे। "मुझे दुःख है हिन्दू अबतक कोई शेरवानी क्यों नहीं पैदा कर सके"—उसने दर्दभरे लहजेमें कहा और फिर मस्तक ऊँचा करके बोला, "क्या मैं शेरवानी नहीं बन सकता !"

उसका नाम मोहनलाल एमा है और वह उन युवकोंका प्रतिनिधि है जो काश्मीरकी पवित्र घाटीके लिए प्राणोंका सौदा करनेसे पीछे नहीं हटते।

४. बाल सैनिक

उसकी आयु लगभग छः-सात वर्षकी होगी। उसने कमीज नेकर पहिना था और ऊपरसे स्वेटर डाला था। उसका सिर नंगा था, उसके कपोल सेबकी तरह लाल और मुख एक ज्योतिर्मय मुसकानसे पूर्ण था। उसके नेत्रोंमें शिशुका कौतूहल, चापल्य और स्नेह भरा हुआ था, उसका प्रभाव मनोरम और ढाढस बँधानेवाला था। जब मैंने उसे देखा तो वह शिकारियोंकी रैलीमें कन्धेपर नकली बन्दूक रखे एक सैनिककी तत्परता और स्फूर्तिके साथ मार्च कर रहा था—लेफ्ट, राइट, लेफ्ट···

मैंने अपने साथीको संकेत किया, 'उधर देखो···।'

'किधर···'

'उधर उस बूढ़े शिकारीके पीछे···'

एकाएक हम सबका ध्यान उसपर केन्द्रित हो गया। अनन्त नक्षत्रोंके बीचमें वह एक छोटेसे तेजोमय ग्रहकी तरह चमक रहा था। कमाण्डरने बताया, 'इसका नाम मंजूर है और यह अनन्त नाग जिला कान्फ्रेन्सके सदरका लड़का है।'

मैंने कहा, 'इस उमरमें इतना उत्साह।'

'जी हाँ। कहता है, मैं वतनके दुश्मनोंको गोलीसे उड़ा दूँगा।'

'सच।'

'जी हाँ। और यही क्यों? काश्मीरका प्रत्येक बालक आज इसी तरह वतनका सिपाही बन गया है। मिट्टीमें बड़ा कलेजा होता है। मेरी तलाशीके वक्त मेरा लड़का वहीं खड़ा था। जैसे ही वे लोग कोयलोंकी ओर बढ़े तो वह निस्संकोच बोल उठा, 'जनाब! कोयलोंमें मुँह काला हो जाता है।'

वे गलत नहीं कह रहे थे। हर स्थानपर मैंने बच्चोंमें एक अद्भुत जागृति पाई। मैंने उन्हें समूहमें देखा—अमीर अथवा गरीब, अर्द्धनग्न अथवा सुन्दर पोशाकधारी, गालोंपर सेबकी लाली और छोटी-छोटी आँखोंमें अजस्र उत्साह लिये वे घाटीको गुंजाते फिरते हैं—"वतनको बचायेंगे अपना खूँ बहायेंगे।" वे शायद इन शब्दोंका अर्थ नहीं समझते, न वे उस हलवाले लाल झण्डेका महत्त्व जानते हैं पर वे इतना अवश्य जानते हैं कि वे कुछ कर सकते हैं और वे किसीसे डरेंगे नहीं।

किसी राष्ट्रके बच्चोंके लिए इतना आत्म-विश्वास कम नहीं है।

५. महिला नेत्री

उस दिन जब हम आनेके लिए बहुत उत्सुक थे, मैंने नुमायशके मैदानमें एक नारीको देखा। वह बड़ी तत्परतासे इधरसे उधर, उधरसे इधर आ-जा रही थी। मुझे लगा उसमें कुछ विशेषता है और मेरा ध्यान उसपर केन्द्रित हो गया। वह कई बार मेरे पाससे गुजरी। तब मैंने देखा—उसका शरीर गतिके साथ हिलता है और तेजीसे चलनेपर उसकी चप्पलें फटफटाती हैं। उसके सिरका लम्बा रूमाल कन्धोंसे होकर पीठपर लटक गया है और उसके कानोंकी बालियाँ धूपमें चमक उठती हैं। उसका लम्बा कुरता (फिरन) उसके डील-डौलकी भाँति फैला हुआ है। जैसा कि स्वाभाविक है उसका रंग सेबकी भाँति रक्तिम आभासे युक्त है परन्तु

नयनोंमें श्यामलता नहीं है, गहरी नीलिमा है और उस नीलिमाके पीछे ऐसा कुछ है जो कौतूहल पैदा करता है। मनमें उठा इस नारीमें कुछ-न-कुछ असाधारणता है। तब मैंने वहाँके एक व्यक्तिसे पूछा, 'यह नारी कौन है?'

'अरे तुम इसे नहीं जानते', उसने अचरजसे कहा, 'यही तो जूनी है!'

'जूनी', मैंने और भी आश्चर्यसे कहा, 'वह जिसने महिला आत्म-रक्षा दलका संगठन किया है।'

'जी हाँ।'

'मैं इससे मिलना चाहूँगा।'

मेरे साथीने आगे बढ़कर उसे पुकारा और काश्मीरी भाषामें कुछ कहा। वह उसी स्फूर्तिसे झूमती हुई हमारे सामने आकर खड़ी हो गयी और सैनिक ढंगसे नमस्कार किया। मैंने नमस्कारका उत्तर देते-देते अनुभव किया यदि लियोनार्डो डी विंची अपनी मोनालिसाको वृद्ध दिखाते तो वह जूनीके समान ही लगती। उसके मुखपर वही रहस्यमयी मुसकान खेल रही थी लेकिन उसके नयनोंमें ऐसा कुछ था जो उसे साधारण मानवसे अलग करता था। मैंने उससे पूछना चाहा···'पर वह हिन्दुस्तानी नहीं जानती' मेरे साथीने कहा।

मुझे दुःख हुआ और साथीकी मध्यस्थतामें दो-चार बातें बताकर जूनी चली गयी। उसे अधिक बातें करना प्रिय नहीं है। वह प्रतिक्षण कर्ममें डूबी रहना चाहती है। मैंने साथीसे पूछा, 'क्या इसके मस्तिष्कमें अनोखापन नहीं है?'

सम्भवतः साथीने मेरा अर्थ नहीं समझा। कहा, 'जूनीमें अद्भुत लगन है। वह यन्त्रकी भाँति काम करती है। सुना है, इसका एकमात्र लड़का पिछले आन्दोलनमें मारा गया था।'

'और इसका पति क्या करता है?'

'कहते हैं उसने इसे घरसे निकाल दिया है।'

मन करुणासे भींग आया। मैं एकाएक कुछ कह नहीं सका। जूनी उसी प्रकार कार्यमें व्यस्त थी। उसके साथ और नारियाँ थीं। वे मुसलमान भी थीं और हिन्दू भी। वे सब आत्म-रक्षा दलकी सैनिकाएँ थीं और राइफल चलाना सीख रही थीं। आँखोंके आगे वह दृश्य अब भी घूम रहा है। हाथोंमें राइफल थामे, स्वास्थ्य और सौन्दर्यकी प्रतिमाएँ, काश्मीरकी वे नारियाँ, स्थिर पग, दृढ़ कदम आगे बढ़ी चली जा रही, चली जा रही हैं, उनके मुखपर लज्जाकी लाली उभर-उभर आती है, उनके नयन गर्वमें उमड़ पड़ते हैं। वे उस स्थानकी ओर जा रही हैं जहाँ न शृंगार है, न आमोद लीला—जहाँ आत्मरक्षा और देशरक्षाके लिए प्राण होम देनेका न्योता है।

जूनीके नेतृत्वमें काश्मीरकी नारियोंने वह न्योता स्वीकार कर लिया है।

६. अतिथिगृहका सेवक

उसका नाम साबिर बट है। वह गेस्ट हाउसका एक सेवक है। पहिली बार देखनेपर लगता है वह धृष्ट और क्रोधी है। उसका बदन इकहरा है और चेहरा पतला। वह साधारण काश्मीरीसे कुछ भिन्न है परन्तु उसकी वाणीमें दृढ़ता है और आँखोंमें गहन अभिमान। वह सेवक है इसीलिए वह अपनेको छोटा नहीं समझता और जो उसे छोटा समझता है उसे वह क्षमा नहीं कर सकता। ऐसे ही एक अवसरपर उसने तीव्रतासे मुझसे कहा था, 'जनाब! जमाना पलट गया है। अब हमें आँखें नहीं दिखायी जा सकतीं।' और फिर शीघ्रतासे अपनी बाँह आगे करके वह बोला, 'मैं वतनका सिपाही हूँ और वतनका सिपाही इज्जत रखता है।'

मैंने देखा—उसकी बाँहपर नेशनल कान्फ्रेंसका लाल झण्डा बँधा है जिसपर सफेद हल अंकित है।

उसकी आँखें प्रतिहिंसासे चमक रही थीं। मैंने किसी तरह उसे शान्त किया और विश्वास दिलाया हम लोग उसकी उतनी ही इज्जत करते हैं जितनी किसी बड़ेसे बड़े नेताकी।

लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि साबिर बट प्रतिष्ठाका भूखा है। वह समझदार आदमी है और प्रत्येक कामको पूरी जिम्मेदारीसे करता है। उसे नेशनल कान्फ्रेन्सका सैनिक होनेका पूरा गर्व है। एक दिन वर्तमान परिस्थितिपर चर्चा करते हुए उसने तीव्रतासे कहा, 'जिन्ना रहजन (डाकू) है। उसने हमारी इज्जतपर हाथ डाला है, हम उससे बराबर लड़ेगा।'

हिन्दू-मुसलिम प्रश्नपर वह और भी विश्वाससे बोला, 'जनाब मेरी माँके दादा पण्डित थे। पण्डित हमारा भाई है। अगर कोई उसकी ओर आँख उठाकर भी देखेगा तो खुदाकी कसम हम उसे गोलीसे उड़ा देगा चाहे वह काश्मीरका मुसलमान क्यों न हो!'

७. प्रकृति

और अन्तमें काश्मीरकी मनोरम घाटी है। वह हिमशृंगोंसे घिरी हुई है। पवित्र चिनार, सुगन्धित केशर, सुस्वादु सेव, बहुमूल्य सफेदे, शहतूत, बादाम और अखरोटके वृक्ष उसकी शोभाश्रीको बढ़ाते हैं। अनेक नदियाँ, झीलें और सरोवर उसकी गोदीमें खेलते हैं, शिवका स्थान अमरनाथ इसी घाटीमें है। शिव वे, जिन्होंने देवासुर संग्रामसे धरतीकी रक्षाके लिए विषपान किया था। यहींपर मेघदूतकी यक्षबालाएँ अपने नूपुरोंकी ध्वनिसे देवताओंके दिलोंमें हिलोरें पैदा करती थीं। यहींपर कालिदास, मम्मट, सोमदेव और क्षेमेन्द्रने अपने काव्यकी प्रेरणा पायी थी। यहाँ क्या नहीं है! कविके शब्दोंमें यहाँ पृथ्वीका स्वर्ग है। और इसी स्वर्गके वासी आज जाग उठे हैं और उन्होंने कविके स्वर्गको सचमुचका स्वर्ग बनानेका दृढ़ निश्चय कर लिया है। नीलकण्ठ उनकी प्रेरक शक्ति है, प्रकृति उनकी

अंगरक्षिका है और उनका आधार है स्वयं रत्नगर्भा वसुन्धरा। वसुओंको धारण करनेवाली धरती अपने बेटोंको कभी निराश नहीं कर सकती। ये बेटे काश्मीर क्रान्तिकी रीढ़ हैं। यह क्रान्ति निर्झरकी भाँति जन-जनके अन्तरसे फूटी है और जिस प्रकार अनेकों लघु स्रोतोंसे महानदका निर्माण होता है। उसी प्रकार वहाँ जन-जनकी चेतना जन-क्रान्तिकी जननी बन गयी है।

: १७ :

गोपी चपरासी

एकाएक देखनेमें वह एक छोटा-सा प्रभावहीन व्यक्ति, न शरीरमें ओज, न वाणीमें प्रखरता पर वास्तवमें स्थिति बिलकुल विपरीत। गेहुँए वर्णकी नाटी छरहरी देह, पतला मुख, मिचमिची आखें, बिल्लीकी-सी मूछें और वैसी ही गतिविधि, इस क्षण इधर ऊँघ रहा है तो उस क्षण उधर दौड़ रहा है। वाचाल ऐसा कि नींदमें भी क्रियाशील। घुटनोंतककी धोती, सिरपर पतला-सा मुडासा, अब खुला अब बँधा, बदनपर कुरता या कमीज, कन्धेपर गमछा, धोती या चादर, शोभाके लिए इतने नहीं, जितने घर जाते वक्त कुछ-न-कुछ ले जानेके लिए और कुछ नहीं तो घास, बुरादा या मिट्टी ही सही, हाथमें वह लकड़ी अवश्य रखता, क्योंकि उसे कुत्तोंसे डर लगता था। विशेष अवसरोंपर सरकारी लम्बी कोट पहनता और पेटी भी बाँधता जिससे कुछ लम्बा लगने लगता।

वह जातका गूजर था और इसी नाते छोटी-बड़ी अनेक चोरियोंके सम्बन्धमें थानेमें उसकी पेशी होती रहती और जैसा कि सदासे होता आया है, वह पिटता भी पर तत्कालीन पंजाबकी वह खूँखार पुलिस उसे एक बार भी अपने चंगुलमें नहीं फँसा सकी। शायद प्रमाणके अभावके कारण, शायद बड़े बाबूकी दयाके कारण या फिर शायद जेब गरम हो जानेके कारण। यूँ उसने कई बार चोरीका इकबाल भी किया था, पर अपनी निराली अदासे। वह ट्रेड यूनियनोंका युग नहीं था पर फिर भी चपरासी लोग मिल बैठते और तम्बाकूके धुएँके साथ-साथ अपने-अपने दुःख-दर्द-

को उड़ानेकी चेष्टा करते । ऐसी ही एक सभामें एक दिन उसके एक साथीने कहा, "और रही चोरीकी बात, किसीके घर डाका मारने कौन जावे है । यूँ खेतमेंसे घास-पात तुम भी लाओ हो हो ।" गोपी तुरन्त अपनी ठेठ हरियानवी भाषामें बोला, "हाँ लाऊँ सूँ । इसमें लुकाणकी के बात सै और लाऊँ कोना । दिके बाबू लोग रोज जेब भरके नावाँ लावें सैं । सच कहूँ सूँ । सच कहूँ सूँ तनखा बाट्णकी बेरा अगूँठा पहली ही लगवा लैं और पैसे देणके वक्त किसी-किसी गरीब कू ऐसा दुत्कारें, ऐसा दुत्कारे कि बेचारा मुँहने ताकता रह जा सै । इस सत्यानास्सी राजमें कम अन्धेर ना से पर बेमाताने अँग्रेज सरकारकी तकदीरमें ना जाणे के लिख दिया सै, दिण दूणी रात चौगुणी तरक्की करे जा सै । गाँधी बाबाकी कुछ भी पार न बसावै ।"

वह जीवन भर चपरासी रहा । बीसवीं सदीकी दूसरी दशाब्दीमें शायद तीन-चार रुपये माहवारपर वह नौकर हुआ था और जब उसे अवकाश दिया गया तो मँहगाई भत्ता मिलाकर वह लगभग ३२-३३ रुपये पाता था, लेकिन इसी आमदनीमें उसने लड़की गोद ली और मुँह-छूट घी, बूरा खिलाकर उसके हाथ पीले किये । उसके कोई औलाद नहीं थी । लोगोंने आपत्ति की, "दुनिया लड़का गोद लेती है जिससे नाम चले, पर तुम नई चाल ढाल रहे हो ।"

उसने जवाब दिया, "देखो जी । नाम चलता किसने देखा है । लड़के सालेकी निगाह मालपर रहे कि कब बाप मरे और मैं मालिक बनूँ ।"

"और लड़की ।"

"लड़की बेचारी सदा यही मनाती रहे कि मेरा बाप जितनी देर बैठा रहे उतना ही अच्छा, कुछ-न-कुछ मिलता रहेगा ।"

उसके तर्क सदा ही मौलिक होते थे । एक दिन वर्षाकी ऋतुमें मैं हवा-पानीका तार तैयार करनेमें लगा था कि उसने पूछा, "क्यों बाबूजी; कुछ बारिशका डोल है ।"

मैंने कहा, "आज तो आँधीके आसार हैं।"

वह हँस पड़ा, 'भगवान् भी बड़े हँसोड़ हैं। पानीकी चाहना है और आँधी भेज रहे हैं।'

फिर एक क्षण रुककर कहा, "बाबूजी, हम करम ही ऐसे करे हैं। चोरी जारी···और बाबूजी आपने कुछ सुना।"

"क्या ?"

"मंगला है न ? अपने दफ्तरमें काम कर चुका है। पाँच सौ रुपयेमें अपनी छोकरी बेच आया। ऐसे जुल्म होने लगे हैं। तब भगवान् न्याव क्यों न करें···"

मैंने कहा, "लेकिन गोपी, सभी पापी थोड़े ही हैं !"

गोपी बोला, "ना हों, गेहूँके साथ घुन पिसे ही हैं।"

यही क्यों, एक बार एक ठेकेदारने चना देनेका ठेका लिया था। बड़ा ठेका था और उन दिनों आसानीसे किसीकी आँखोंमें धूल भी नहीं झोंकी जा सकती थी। स्वयं सबसे बड़ा अफसर मालकी जाँच-पड़ताल करता था। इसीलिए जब ठेकेदारने फार्मके आँगनमें चनेके ढेर लगवा दिये तब कर्नल पूरे अमलके साथ निरीक्षण करने आया। कई क्षण वह घोड़ेपर चढ़ा इधर-उधर घूमता रहा, फिर एकाएक बोल उठा, "हम यह माल नहीं लेगा।"

जैसे वज्रपात हुआ। बूढ़े ठीकेदारको काटो तो खून नहीं। गिड़गिड़ाकर बोला, "हुजूर···"

"हम कुछ नहीं जानटा।" कहते-कहते वह घोड़ेपरसे उतरा और एक ढेरमेंसे कुछ फलियाँ उठाकर पूछा, "हमने चना माँगा था, यह कूड़ा नहीं। यह क्या है ?"

निमिषमात्रमें सारा आँगन निस्तब्ध हो आया। अब मालके नामंजूर होनेमें कोई सन्देह नहीं। कर्नल उसी आवेशमें उन फलियोंको बूढ़े

ठेकेदारकी नाकके पास ले गया और कड़ककर बोला, "हम पूछता यह सब क्या है ?"

बूढ़ा ठेकेदार काँपनेके अतिरिक्त और कुछ नहीं कर पा रहा था। कर्नलने अपना प्रश्न फिर दोहराया। तभी सहसा गोपी बोल उठा, "हुजूर यह चनेकी माँ है।"

एक साथ सबके नयन उसकी ओर उठ आये। कन्धेपर दुपट्टा डाले, हाथमें लकड़ी लिये वह मुसकराता हुआ खड़ा था। कर्नल उसकी ओर देख रहा है यह जानकर उसने बड़े अदबसे कहा, "हुजूर, यह चनेकी माँ है। इन्हींके पेटसे चने पैदा होते हैं···।"

आगे कुछ कहनेकी जरूरत नहीं पड़ी। कर्नल ठहाका मारकर हँस पड़ा और बोला, "ठीक-ठीक, तुम ठीक बोला।"

और वह आगे बढ़ गया।

अक्षर-ज्ञानसे आदमी बड़ा माना जाता है। पर सहज ज्ञानसे आदमी बुद्धिमान् बनता है। गोपीकी सहज बुद्धि अकसर पढ़े-लिखोंको पछाड़ देती थी। वह हँसता भी खूब था, ऐसी खुरदरी हँसी कि पेचकसकी तरह चीरती चली जाय पर क्या मजाल कि कोई रो सके। सन् १९३१-३२ के बाद दफ्तरमें अकसर तूफान मचा रहता। काम बहुत, आदमी कम, सो सब उत्तेजित। इस उत्तेजनामें क्रमशः ऊपरवाला नीचेवालेको, नीचेवाला और नीचेवालेको अनायास ही पीसनेको आतुर हो उठता। इन्हीं दिनों एक दिन बड़े बाबू तीव्र गतिसे साहबके पास आये और गोपीसे कहा, "···बढ़ईसे कहो कि मुझसे मिले।"

गोपीने पूछा, "कब मिले ?"

"मैं कहता हूँ मुझसे मिले। जरूरी काम है।"

"जी हाँ। मैं अभी जाता हूँ पर वह कब आवे ?"

कई बार इस प्रश्नकी पुनरावृत्ति होनेपर बड़े बाबू चीखकर बोले, "कमबख्त, सुनता नहीं। बारह बजे मिले।"

गोपी लाठी उठाकर बाहरकी ओर लपका ही था कि लौट पड़ा। घड़ीमें तब चार बजे थे। उसने बड़े बाबूसे पूछा, "जी रातके बारह बजे आनेको कहूँ न ?"

यह सुनकर बड़े बाबूकी क्षुब्धता यदि सीमाको पार कर जाती तो स्वाभाविक ही था, पर ऐसा हुआ नहीं। उन्होंने जब आग्नेय नेत्रोंसे गोपीकी ओर देखा तो वह पूर्ण शान्त, संयत खड़ा था। न जाने क्या हुआ, बड़े बाबू मुसकरा आये। कहा, "जा-जा कल दिनमें बारह बजे आनेको कहना।"

कभी-कभी यह हँसी अनायास ही बड़ी निर्दय हो उठती। शायद पहले महायुद्धके दौरानकी बात है। बड़े बाबूजीकी माताका देहान्त होने-पर वह उनके फूल लेकर गंगाजी गया था। सब धार्मिक कृत्य हो जानेपर उसने एक भोजनालय खोज निकाला। उन दिनों चवन्नी खुराकका नियम था, लेकिन कुछ देर बाद ढाबेवालेने पाया कि यह नया ग्राहक तो उस सीमाको कभीका पार कर चुका है। उसने हाथ खीचना शुरू किया। दाल माँगे तो ना, साग माँगे तो ना, चटनी माँगे तो ना, आखिर गोपीने कहा, "रोटी तो है।"

ढाबेवालेने कहा, "ठहरो, अभी लाते हैं।"

गोपी है कि पूर्ण शान्त, तनिक मैल नहीं, व्यग्रता नहीं! नमकके साथ ही पचीसवीं रोटीको उदरस्थ किया और कहा, "रोटी लाओ भाई।"

अब तो ढाबेवालेका बाँध टूट गया। स्पष्ट शब्दोंमें उसने कहा, "अब रोटी नहीं मिलेगी।"

"क्यों भाई ?"

"एक थालीमें आठसे अधिक रोटी नहीं होती।"

"लेकिन हमारी बात तो खुराककी तय हुई थी।"

ढाबेवाला उठ खड़ा हुआ, "कुछ भी हो अब नहीं दूँगा।"

गोपी बैठा रहा, "मैं भी खुराक पूरी करके उठूँगा।"

बात बढ़ी, भीड़ बढ़ी। एक सज्जनने पूछा, "कहांके रहनेवाले हो भाई।"

गोपीने अपनी ठेठ बोलीमें जवाब दिया, "हरियाणेका गुज्जर मैं।"

तब वह सज्जन ठहाका मारकर हँसे। ढाबेवालेसे कहा, "पूछकर सौदा किया करो। हरियाणेके माणस हमारी तरह पाँच-छः फुल्के नहीं खाते, खुराक खाते हैं। अबतक दुनियाको लूटता रहा है, आज लुटकर भी देख। चल अब खिला अपने ताऊको।"

वह काम कितना करता था, इसकी कल्पना भी आज कोई नहीं कर सकता। सवेरे आठ बजे दफ्तर पहुँचता तो वहीं रातको आठ बज जाते। फिर बड़े बाबूके घरका काम, छोटे बाबुओंके खानेकी व्यवस्था। "ओ गोपी। गोपी, कहाँ गया रे।" "ओ गोपी, दूध लाया।" "गोपी, यह ले जा।" "गोपी, वह ला।" "गोपी खाना ले आया।" "अरे गोपी, आज घर काम करूँगा, बस्ता ले जाना।..."

गोपी कभी पूरी बात न सुनता, लेकिन क्या मजाल कभी काममें चूक हो पाती। यूँ मनमें आता तो बैठे-बैठे सो जाता। फिर भले ही तूफान उठे या भूकम्प आये, उसे चिन्ता नहीं। फिर एकाएक 'हरे राम, हरे राम' करता हुआ ऐसा उठता जैसे बड़ी देरसे काम कर रहा है। इतनी तेजीसे कागज इधर-उधर करता कि फिर भूकम्प आ जाता। इसकी शिकायत, उसकी निन्दा, उस बाबूने समयपर काम नहीं किया, उस ठेकेदारने इस बार माल बहुत खराब दिया है और बाबूजी...बाबूजी परेशान, झुँझला रहे हैं, लेकिन गोपी है कि बोले चले जा रहा है, बोले चले जा रहा है।

एक दिन उसने क्या किया कि ठीक हाहाकारके समय वह बड़े बाबूका दूध लेकर उनके पास पहुँचा, "बाबूजी, दूध पी लो।"

बड़े बाबू भरे बैठे थे, चीखकर बोले, "कम्बख्त! यह काम करनेका

तुरन्त गोपीने कहा, "बाबूजी ! आप दोपहरको खाना नहीं खाते, अब दूध नहीं पीते। आखिर हाथ-पैर ···।"

"मैं कहता हूँ तुझे इन बातोंसे क्या मतलब ?"

"बाबूजी···!"

"कमबख्त ! शोर न मचा। ले जा इसे। नालीमें डाल दे या बिल्ली-को पिला दे।"

गोपी बड़बड़ाता, झुँझलाता लौट गया। कुछ देर बाद दफ्तरमें अपेक्षाकृत शान्ति हुई तब बड़े बाबूको दूध याद आया। पुकारा, "ओ कमबख्त गोपी ! कुछ तो सोचा कर, सवेरेका भूखा हूँ। दूध कहाँ है ?"

गोपीने तुरन्त लकड़ी-चादर सँभाली और बाजारकी तरफ लपका। हतप्रभ-क्रुद्ध बड़े बाबू बोले, "उधर कहाँ जाता है ?"

"दूध लाने। यह आया दो मिनिटमें।"

"लेकिन वह दूध···।"

"जी वह तो बिल्लीको पिला दिया। बेचारी भूखी थी···।"

और वह यह जा, वह जा।

गोपी एक अद्‌भुत इन्सान था। प्रसन्न हो तो प्राण अर्पण कर दे, अप्रसन्न हो तो जन्म-जन्मका शत्रु। कोई दो शब्द प्यारके बोल दे, दो पैसेकी चीज हाथपर धर दे बस गोपी उसीका ! एक बार माताजी बीमार पड़ीं। दवाके लिए किसी छाल या बूटीकी आवश्यकता थी। वह आसानीसे प्राप्य नहीं थी। लेकिन गोपीने, जब कहा, तभी लाकर दी। कष्टकी कभी चिन्ता नहीं की। कह देता था, "बिशनूकी माँ ! तेरे लिए जान भी हाजिर है।"

उसकी जान न जाने किस-किसके लिए हाजिर रहती थी। उन दिनों आज-कलके-से दिन नहीं थे। छुट्टियोंमें भी बाबू लोगोंको दफ्तर जाना होता। कभी न जाते तो बुलावा आ जाता। एक रविवारको मैंने भी निश्चय किया—आज नहीं आऊँगा। कहानी लिखूँगा।

लेकिन जैसे ही पहला अक्षर लिखा, गोपीने आवाज दी, "बाबूजी !"

मैं क्रुद्ध-कम्पित बोला, "क्या है ?"

"साहबने सलाम दी है।"

"पर आज तो रविवार है।"

वह हँस पड़ा, "बाबूजी, आप भी कैसी बातें करते हैं। छुट्टी तो रजिस्टरमें लिखनेके लिए होती है। उठिए, साहबको अभी जाना है।"

मैंने तीव्र स्वरमें कहा, "जाकर कह दो, मैं नहीं आऊँगा।"

तबतक वह आरामसे चारपाईपर बैठ चुका था। मेरी बातको उसने अनसुना करके मेरी माँसे कहा, "विशूनकी माँ ! ला री एक रोटी।"

माँ बोली, "एक क्यों, पेट, भरके खा।"

"बस एक, विशनूकी माँ। पेट क्या रोटीसे भरे है। वह तो बाउली, प्यारकी बातसे भरे है। तू दो बोल मीठे बोल दे है बस, भरा रहूँ।"

और फिर जल्दी-जल्दी रोटी खाकर वह उठा। मेरे पास आया, "बाबूजी, आराम करो, साहबसे मैं निबट लूँगा।"

न जाने कितनी बार कितनोंके साथ ऐसे अवसर आये, पर क्या मजाल वह कभी चूका हो।

समाजके तथाकथित निचले स्तरका वह प्राणी निश्चय ही अनगढ़ और अनपढ़ था पर, उसका मस्तिष्क उर्वर था। उस उर्वरताका उपयोग वह शिव और शैतान दोनोंकी साधनाके लिए करता था। वह किसीका होना जानता था तो किसीको परेशान करना भी जानता था और करता था। वह अपना मूल्य चाहता था। वह मनुष्य जो था पर ऐसा मनुष्य जो सबसे पहले काम करनेमें विश्वास करता है। वह बोलता रहता, चलता रहता पर काम उसका कभी न रुकता, सवेरे, शाम, तपती हुई दोपहर, रातके दो बजेका निविड़ अन्धकार, वर्षा, शीत, ग्रीष्म कभी भी, बावजूद उसके बड़बड़ानेके उसपर विश्वास किया जा सकता था। हड़-तालों, प्रदर्शनों और अधिकारोंके इस युगमें आज न जाने क्यों उस

अनपढ़, अकिंचन प्राणीको याद करके मन भरभर आता है। उसकी हँसी छातीमें उफन-उफन उठती है। उसकी अनगढ़ मूर्त्ति आँखोंमें उभर-उभर आती है। वह चोर हो सकता है, उसे लालची भी कहा जा सकता है पर फिर भी उसमें ऐसा कुछ था जो मनुष्यको मनुष्य बनाता है। आज वही 'ऐसा कुछ' खो गया है, खोता जा रहा है।

अगस्त १९५७



: १८ :

रामचन्द्र तिवारी

गौर वर्ण, प्रशस्त ललाट, कुछ अनगढ़-सा चेहरा, कुछ थकान, कुछ बालोचित मुसकान और कौतूहलसे पूरित आँखें, मँझोला कद और स्थूलताकी ओर झुकता-सा शरीर; यह है रामचन्द्र तिवारीका रूप, जो दूरसे किसी मराठे भाईसे मिलता-जुलता जान पड़ता है, पर असलमें न तो उनके शरीरमें मराठोंका-सा गठन है और न पोशाकमें वह चुस्ती। वे तो ढीले-ढाले, अपनेको खींचते-से अक्सर किसी पगडण्डीपर चलते-फिरते दिखाई दे जाते हैं। कंधेपर लटकनेवाला थैला उनका चिरसंगी है, जिसमें उनके लिखनेकी उन जैसी ही कोई नोट-बुक पड़ी रहती है और जिसे जाड़ोंके दिनोंमें वे कोटके नीचे लटकानेमें कोई आपत्ति नहीं मानते। दफ्तरी जीवनके बाद अपने इस चिरसंगी थैले सहित, अपनेमें खोये-से, वे अक्सर कोलाहलसे दूर किसी एकाकी वन-मार्गपर घूमते देखे जा सकते हैं। कोई विचार सूझता है तो क्षण भर रुक उसे नोट-बुकमें नोट कर लेते हैं और फिर आगे बढ़ जाते हैं। शहर या शहरसे दूर, घूमना उन्हें बेहद प्रिय है। उसमें यदि सवारीका प्रयोग कमसे कम करना पड़े तो उसे वे सोनेमें सुहागा मानते हैं।

लेकिन तिवारीजी सवारीसे, विशेषकर रेलसे बिलकुल दूर नहीं करते!

दिल्लीमें रेलके पुलके नीचेसे या ऊपरसे गुजरते समय जब कोई ट्रेन दिखाई दे जाती है तो वे बच्चोंकी तरह, खड़े होकर उसे देखने लगते हैं। इञ्जनकी गति उनकी छातीमें हिलोरें पैदा करती है लेकिन इस कौतूहलके मूलमें केवल बालक ही नहीं हैं; तिवारीजी व्यवसायसे वैज्ञानिक भी हैं।

जी हाँ; तिवारीजी व्यवसायसे वैज्ञानिक, पर वैसे साहित्यिक हैं; स्वभावसे सोसायटी-भीरु पर वैसे जिज्ञासु और अन्वेषक हैं; देखनेमें भोले-भाले पर वैसे उनका बुद्धि-चातुर्य देखे बनता है। उनके जीवनका मसाला तैयार करते समय विधाता या तो ऊँघने लगे थे या फिर किसी अपार खुशीके कारण उनका मस्तिष्क छुट्टी मना रहा था; इसलिए हाथ कभी इस ढेरपर पड़ जाता था, कभी उस ढेरपर। इसीलिए तिवारीजीके जीवन और साहित्य दोनोंमें जहाँ एक ओर तो अद्भुत संयम और सुघड़ता है, वहाँ दूसरी ओर एक हलकी-सी शुष्कता, एक हलकी-सी लापरवाही भी है। उनमें भावोंका आवेश तो नहीं है, पर वह स्निग्धता भी सम्पूर्ण मात्रामें नहीं है, जो हृदयको भिगोती है। उनका मस्तिष्क हृदयसे अधिक पुष्ट है।

याद आता है—एक मित्र गृहस्थीके रोमांसकी सच्ची कहानियाँ इकट्ठी करते हुए तिवारीजी तक जा पहुँचे थे। उन्हें तिवारीजीने जवाब दिया था कि मेरा वैवाहिक जीवन रोमांस रहित एक शान्त और स्वस्थ जीवन है। मैं आपकी कुछ सेवा नहीं कर सकता। यह भी याद है कि एक दिन सन्ध्याको घर लौटते समय वे बच्चोंके लिए कुछ खरीदनेको व्यग्र थे। बोले, 'दिन भरके बाद जब बच्चे मिलेंगे, तो उन्हें देनेको कुछ चाहिए ही, कमसे कम कुछ मुँह चलानेके लिए तो हो।' एक और दिनकी बात भुलाये नहीं भूलती। शायद रात पड़ गई थी और मील-दो-मील चलनेकी बात थी। हम लोग किसी गोष्ठीसे लौट रहे थे। तिवारीजीकी गोदमें उनका छोटा बच्चा था। अचानक मेरे मनमें उनके प्रति सहानुभूतिका उदय हुआ। कहा, "तिवारीजी! आपको इतनी दूरतक बच्चेको उठाना पड़ेगा। बोझ नहीं लगेगा?" वाक्य पूरा भी न कर पाया था कि वे

तेजीसे बोले, "बोझ आपके लिए है, मेरे लिए नहीं। मुझे क्यों लगता।" मैं क्षणभरके लिए स्तब्ध रह गया पर दूसरे ही क्षण मेरी समझमें आया कि तिवारीजीके प्रति मेरी सहानुभूति एक पिताका अपमान बन गई है। पिताका प्रेम या कर्तव्य अब उनमें इतना बढ़ गया है कि विज्ञान और साहित्यको एक ओर रखकर वे बच्चोंको पढ़ाते हैं और पढ़ाते-पढ़ाते वे उनके लिए पुस्तकें भी रच रहे हैं। वे केवल कविता ही नहीं करते बल्कि तस्वीर भी बनाते हैं। चिरसंगी थैलेकी नोट-बुकमें ऐसे अनेक प्रयत्न आप देख सकते हैं।

तिवारीजीकी गृहस्थीमें भले ही कोई रोमांस न रहा हो, पर उनकी जीवनगाथा वैसे बड़ी रोमांचक है। जिस घरमें उन्होंने पहली बार आँखें खोलीं, वह इतना गरीब था कि उन्हें गरमाई पहुँचानेके लिए अरहरकी लकड़ियाँ जलानी पड़ती थीं। पिता सहारनपुर जिलेमें कहीं नहरमें सिग्नेलर थे और शीघ्र ही परिवारको असहाय छोड़कर चल बसे थे। वैसे वे लोकप्रिय इतने थे कि उनकी मृत्युके बाद उनके दयालु अफसर और सहृदय साथियोंने उनके बच्चोंकी शिक्षाके लिए कुछ रुपया इकट्ठा कर दिया था। उसी इकट्ठे किये गये धनके सहारे तिवारीजीने प्रेम महाविद्यालय, वृन्दावनमें शिक्षा पाई, लेकिन यह सब हुआ उनकी माँकी प्रेरणा और प्रयत्नोंके फलस्वरूप। उनके जीवनको ढालनेमें उनकी माँका बहुत बड़ा हाथ रहा है। निर्धनता, स्वावलम्बन और प्रेम महाविद्यालयका योगदान भी कुछ कम नहीं है। जहाँ संघर्षने उन्हें वैज्ञानिक आत्मविश्वास दिया, वहाँ प्रेम महाविद्यालयने ज्ञानके साथ-साथ आत्माभिमानको भी प्रखर किया। एक ओर तो वे कांग्रेस, हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन और हिन्दुस्तान-सेवा-दलके सम्पर्कमें आये, दूसरी ओर ग्राम-सेवा-शिक्षण क्लासमें उन्होंने अनेक उद्योगोंकी शिक्षा प्राप्त की। इसी तरह संघर्ष करते-करते वे टाइपिस्ट बनकर दिल्लीके तिब्बिया कालेजमें आये और देखते-देखते बन बैठे कैमिस्ट। टाइपिस्टसे कैमिस्ट बन जानेकी कहानी तिवारीजीको भले ही रोमांचक न लगे, पर साधारण मानवके लिए यह एक रहस्य ही है।

वस्तुतः तिवारीजी सदा एक मेधावी छात्र रहे हैं। अपने बचपनकी चर्चा करते हुए अभी उस दिन वे कह रहे थे कि चौथी कक्षामें मुझे दो बार जो पढ़ना पड़ा था, वही मेरे लिए वरदान बन गया। मैंने जो कुछ पढ़ा उसे पचाया; किसी खास आयुमें पढ़ाई पूरी करनेकी होड़में, मैं दौड़ा नहीं और इसीका यह परिणाम हुआ कि प्राइवेट रूपमें पढ़नेपर भी वे सदा प्रथम श्रेणीमें रहे। यही नहीं इन्होंने और इनके छोटे भाई दोनोंने मिलकर बारी-बारी कालेजकी शिक्षा प्राप्त की। जब छोटा भाई कालेजमें गया तो तिवारीजी दफ्तरमें रहे और जब तिवारीजी कालेजमें आये, तो छोटा भाई दफ्तरमें पहुँच गया। इस प्रकार बी० एस-सी० की डिग्री लेकर वे तिब्बी कालेजसे 'कौंसिल ऑव साइण्टिफिक एण्ड इंडस्ट्रियल रिसर्च'में पहुँच गये और प्रस्तावित वैज्ञानिक बन गये। संघर्ष और स्वावलम्बन जिसके जीवनकी प्रेरक शक्तियाँ हैं, देवता सदा उसके भाग्यसे ईर्ष्या करते रहेंगे!

तिवारीजी वैज्ञानिक तो बन गये पर साहित्यने उनकी आत्माको मुक्ति नहीं दी। संघर्षके साथ-साथ उसकी भूख बराबर बढ़ती रही। उनका बचपन देहातोंमें बीता और उसकी अमिट छाप उनके हृदयपर अङ्कित हो गई। उनके सारे साहित्यपर उसीकी लम्बी छाया पड़ी हुई है। यूँ तो वे बचपनसे तुकबन्दी करते रहे हैं, पर १९३० से पूर्व उन्होंने जो कुछ लिखा है, उसका हो तो ऐतिहासिक मूल्य ही हो सकता है। शुरूमें वे कवि, आलोचक और निबन्धकारके रूपमें आगे आये, पर शीघ्र ही केवल कहा-नियाँ लिखने लगे। पहला उपन्यास शायद उन्होंने १९४२ में लिखा था। उसकी कथा पूर्वी उत्तर-प्रदेशके गाँवोंकी कहानी है। वह इतनी करुण और मार्मिक है कि जब दिल्ली रेडियोसे उसका रूपान्तर प्रसारित हुआ तो श्रोतागण एक घण्टेतक सैटके आगे स्तब्ध बैठे रहे थे, पर इस क्षेत्रमें जितनी सफलता उन्हें 'सागर सरिता और अकाल'को लिखनेमें मिली उतनी और किसी उपन्यासके रचनेमें नहीं मिली। बंगालकी पृष्ठभूमिपर लिखे गये इस उपन्यासमें उन्होंने सैलाब, तूफान, और अकालके जो

मार्मिक और सच्चे शब्द-चित्र खींचे हैं, उनपर कोई भी साहित्य गर्व कर सकता है और उन चित्रोंकी पृष्ठभूमिपर एक साथ क्षुद्र और महान् मानवका जो प्रतिबिम्ब उन्होंने अंकित किया है वह खूब है।

अभी कहा गया था कि तिवारीजीका हृदय-पक्ष दुर्बल है, पर वह वैज्ञानिक क्या जो अपनी दुर्बलतासे परिचित न हो और परिचित होकर उस कमीको दूर करनेका प्रयत्न न करे। तिवारीजीकी रचनाओंमें यह प्रयत्न है और कहीं-कहीं इतना सफल हुआ है कि हृदय कण्टको आने लगता है। फिर भी उनकी कहानियोंमें यह दुर्बलता मौजूद है और इसी कारण वे नाटक साहित्यको कुछ दे सकेंगे इस बारेमें हमारा मन बहुत विश्वस्त नहीं है। लेकिन एक निबन्धकारके रूपमें उनका योग-दान सदा सबसे ऊपर रहेगा। उनकी भाषा और उनका वैज्ञानिक होना उस सफलताके प्रमुख कारण हैं। तिवारीजीकी हिन्दी साहित्यको सबसे बड़ी देन है सुगठित और सशक्त भाषा, एक साथ मँजी हुई, प्रांजल और स्निग्ध। वैसी ही प्रांजल और स्पष्ट है उनकी दृष्टि। क्रान्तिकारी भी वह कम नहीं हैं; क्योंकि जहाँ वे एक ओर गाँवोंके प्रेमी, भारतीयताके पक्षपाती हैं, वहाँ वे मांस तो दूर, गौ-मांस-भक्षकको भी पापी नहीं मानते। वैज्ञानिक दृष्टि कोरी भावनाकी भित्तिपर नहीं पनपती। वैज्ञानिक होनेके नाते उन्होंने साहित्य-क्षेत्रमें भी अनेक सफल प्रयत्न किये हैं। उन्होंने सामाजिक, मनोवैज्ञानिक, दार्शनिक, रूपकात्मक, वैज्ञानिक तथा प्रतीकात्मक सभी तरहकी कहानियाँ लिखी हैं। दो शब्दोंमें कहें तो—प्रतीक रूपसे स्थितिका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण इनकी कलाकी विशेषता है। प्रवाह और तटस्थता उसके गुण हैं और व्यंग्य उसकी शक्ति।

व्यंग्य और बुद्धि-चातुर्यमें वे बहुत आगे हैं, पर उनके व्यंग्योंमें द्वेष नहीं सरल हास्य है। एक मित्र पूछ रहे थे, 'क्यों तिवारीजी! हिन्दीमें गदरपर कोई अच्छी किताब है?'

तिवारीजी बोले, 'साहब! उनके मारे गदर पड़ रहा है।'

दूसरे एक मित्रको किसी बातपर एतराज था; पर वे उसे बता नहीं

रहे थे। तिवारीजीने मुसकराकर कहा, 'हर एतराजके पीछे कोई राज होता है। राज कैसे बताया जा सकता है?'

अभी उस दिन एक साहित्यिक मित्रको लेकर चर्चा चल पड़ी थी। तब हम लोग ऐसे स्थानपर खड़े थे, जहाँ गन्दे पानीकी गहरी नालियाँ बन्द करके बरसाती नालियाँ बनाई जा रही थीं। बात भी कुछ गहराईसे सम्बन्ध रखती थी। मैंने कहा 'कुछ भी हो वे बन्धु बहुत गहरे नहीं हैं।' इसपर तिवारीजी बोले, 'जनाब! गहराई अब रही कहाँ है। देखो, नालियों तककी गहराई खत्म की जा रही है।'

तिवारीजी हिन्दीमें वैज्ञानिक साहित्यके इने-गिने लेखकोंमेंसे हैं। वैज्ञानिक शब्दावलीके निर्माणमें उनके प्रयत्न आज भले ही ऊपर न आ पायें पर दस वर्ष बाद उसका मूल्य प्रगट होगा ही। तिवारीजी जिस विश्वाससे कलम चला सकते हैं उसी विश्वाससे तूलिकाका प्रयोग भी वे कर रहे हैं। यही नहीं, पुरानी दिल्लीके पुराने और अँधेरे मकानकी छतपर उन्होंने पुष्प-वाटिकाका निर्माण किया है और वह उस मकानको सौन्दर्य और सुगन्ध ही प्रदान नहीं करता, उनकी लगनकी साक्षी भी देता है। सचमुच उन छोटे-बड़े टूटे-फूटे टीनों और मिट्टीके बरतनमेंसे झाँकते हुए फूल मानो यह घोषणा करते हैं कि ढूँढ़े तो नरकके अन्तस्तलमें ही स्वर्गके दर्शन हो सकते हैं। बाल-साहित्यमें इधर जो वे नये प्रयोग कर रहे हैं वे बड़े आशाप्रद हैं। वे बच्चों और विद्वानों सबके लिए समान सहजतासे लिख लेते हैं। जब कुछ करनेकी सोच लेते हैं, तो निर्धारित समयमें कर डालते हैं। अपने मित्रोंमें वे विधान-शास्त्रीके नामसे प्रसिद्ध हैं। वे समाज-भीरु हैं, यश उन्हें लुभाता नहीं। लोगोंका विचार है उनकी उपेक्षा की गई है। यह ठीक भी है। मूक साधकोंकी सदा उपेक्षा होती है, पर यह कोई श्राप नहीं है, वरदान है। यश और प्रचारकी तेज रोशनी, वह मीठा जहर है जो प्राण तो नहीं लेता, पर आत्माको सदा-सदाके लिए कलुषित कर देता है। बेशक आज तिवारीजीका नाम उतना प्रचलित न हो, उनकी सेवाओंका उचित प्रतिदान न मिला हो, पर क्या यह सन्तोषकी

बात नहीं है कि उनकी आत्मा अभी उस लोक-प्रिय कल्पमें अटकी है, जिसके पीछे दुनिया पागल है।

तिवारीजी एक प्यारे और अच्छे साथी हैं। वे आक्रमण कर सकते हैं और करते हैं, पर किसीका मजाक उड़ाना उनके स्वभावमें नहीं है। वे विवाद कर सकते हैं और करते हैं, पर क्रोध उन्हें कभी नहीं आता। प्रतिपक्षीकी गरमी जब बढ़ने लगती है, तो तिवारीजी मुस्कराने लगते हैं। आवेश उमड़ता है तो वे मौन हो जाते हैं, पर प्रत्याक्रमण नहीं करते। यात्रामें उनके साथ रहनेसे दोहरा आनन्द मिलता है। उनकी वैज्ञानिकता ज्ञान बढ़ाती है, उनकी शान्ति शक्ति देती है। हिमालयकी श्रीनगर-घाटी हो अथवा अरावलीकी हल्दी घाटी; हमने उन्हें सदा एकरूप देखा है—शान्त पर सजग; मौन पर वातावरणमें डूबे हुए। कभी झगड़ेंगे नहीं, अटकेंगे नहीं, निरन्तर आगे बढ़ेंगे और साथ लेकर बढ़ेंगे। मजदूरकी झोपड़ी हो अथवा राजमहल, उनकी गति-मति एक रहेगी। पेचीदगी तो इस मूक साधकमें है ही नहीं। वह एक सरल वैज्ञानिक और साहित्यिक है; वह एक साथ धरतीपर चलनेवाला और गगन-विहारी है। उन्हें बुद्धिका अजीर्ण नहीं है, पर उनका चातुर्य चकित करनेवाला है। वे इस अनोखी दुनियाके अनोखे आदमी हैं। वे बहुत-कुछ हैं, पर सबसे पहले मनुष्य हैं।

: १९ :

टीपू सुलतान

टीपू सुल्तानसे मेरा आशय न तो मैसूरके प्रसिद्ध सुल्तानसे है, जिसने अँगरेजोंके दाँत खट्टे किये थे और न किसी रईसजादेके रईस कुत्तेसे है; लेकिन फिर भी उसमें इन दोनोंका व्यक्तित्व मौजूद था। टीपू सुल्तानकी तरह मुसलमान होकर भी वह हिन्दुओंका मित्र था तथा एक दिन कुछ धर्मान्ध युवकोंने उसे कुत्तेकी तरह गोली मारकर कुएँमें डाल दिया था। मैं नहीं जानता, उसका असली नाम कुछ और था या नहीं। था भी, तो मैंने उसे कभी सुना नहीं। सब लोग उसे सदा 'टीपू' कहकर पुकारते थे। बहुत दिनों बाद जब वह कुछ दिन फौजमें नौकरी करके लौटा था और उसने लम्बी दाढ़ी रखवा ली थी, तब कुछ लोग उसे टीपू खाँ कहने लगे थे। वैसे वह कुछ दिनकी ही बात थी, शीघ्र ही वह फिर 'खाँ' रहित केवल 'टीपू' रह गया था। वह मुझसे पहली बार कब मिला, ठीक याद नहीं; परन्तु उन बातोंको आज १९५० में कमसे कम २५ वर्ष तो हो ही चुके हैं। मुलाकातसे पहले भी मैंने उसे बहुत दिनोंतक प्रायः रोज ही देखा होगा; क्योंकि घरसे दुकान जानेके लिए उसे मेरे घरके आगेसे गुजरना होता था। यद्यपि उस शहरमें हिन्दू-मुसलमानोंकी बस्तियाँ प्रायः अलग-अलग थीं, फिर भी मरुस्थलकी शाद्वल भूमिकी तरह कुछ हिन्दू मुसलिम-बस्तीमें और कुछ मुसलमान हिन्दू-बस्तीमें रहते थे। टीपूका घर ठेठ हिन्दुओंके मोहल्लेमें था। मेरे मोहल्लेमें भी, जो टीपूके मोहल्लेके बिलकुल बराबर था, कई मुसलमान कुटुम्ब बसते

थे। यद्यपि उनमें कुछ लोग काफी कट्टर थे फिर भी उनके लड़के हमारे साथ चौकमें तरह-तरहके खेल खेला करते थे। इस चौकड़ीमें कहार, बनिए, ब्राह्मण, जैनी, आर्यसमाजी और मुसलमान सभीके लड़के होते थे। टीपू उस दलका सक्रिय सदस्य था। वह यद्यपि दूसरी गलीमें रहता था, तो भी खेलनेके वक्तपर अक्सर हमारे घरके बाहर पड़ी कुर्सियोंपर आ बैठता था। मुझे याद है, बहुत दिनतक उसे शर्म चढ़ी रही थी। वह एक गरीब बढ़ईका लड़का था और शायद अपने बड़े भाईके पास रहता था। कुछ भी हो, खेलनेमें उसे दिलचस्पी थी—विशेषकर चाँदनी रातमें कबड्डी खेलनेमें उसे विशेष रस आता था। उस खेलमें उसकी छटा देखते ही बनती थी। वह तनिक टाँगोंको चौड़ा करके दौड़ा करता था और अपने कन्धेपर एक गन्दा-सा अँगोछा डाले रखता था। उसे चिढ़ानेमें हमें बड़ा रस आता था। दूसरेके दलमें घुसते समय 'कबड्डी तीन तारा, सुल्तान बेग मारा'के स्थानपर हमें 'कबड्डी तीन तारा, सुल्तान टीपू मारा' पुकारते थे। याद नहीं पड़ता, वह कभी सचमुच नाराज हुआ था। वैसे झूठ-मूठ नाराज हो जाना और फिर पेट पकड़कर हँस देना उसका स्वभाव था।

उसका शरीर कुछ चौड़ा और कद मझोला था। टाँगें कुछ पतली थीं और चलते समय तिरछे अजाबिए बनाया करती थीं। उसकी आँखें बड़ी और माथा ऊँचा था। उसके मुखपर सदा एक विचित्र प्रकारकी अल्हड़ता खेलती रहती थी और हँसीके कारण अक्सर उसे सीधा खड़ा रहना दूभर हो जाता था। उसे आगे-पीछे देखकर साथियोंका अट्टहास और भी गहरा हो उठता था। वह कुरता और तहमद पहनता था तथा उसके सिरपर एक सस्ती मैली झरोखेदार तुर्की टोपी रहती थी। उसके पैरोंमें शायद ही मैंने साबुत जूते देखे होंगे। अक्सर वह फटफटिया ही पहनता था। आजकलकी चप्पलोंका उन्हें पूर्वरूप कह सकते हैं। पुराने जूतोंकी एड़ी काटकर तैयार की जाती थीं।

पर ये सब बचपनकी बातें हैं। जैसे-जैसे उसकी आयु बढ़ी उसका

सन्तुलन ठीक होता गया। वह एक अच्छा बढ़ई था और अपने भाईकी दुकानमें बड़ी मुस्तैदीसे काम किया करता था। तब कबड्डीका खेल खतम हो चुका था और हमारा मिलना पहले-जैसा नहीं रहा था। हमने मकान बदल दिया था और साथ ही सन् १९२५-२६ का बचपन १९३३-३४की जहरी जवानीमें पलट चुका था। १९३७ तक तो साम्प्रदायिकताका वह जहर हिन्दू-मुसलमानोंकी नस-नसमें रम गया था। यह सब हुआ, परन्तु टीपूकी हँसीमें कोई अन्तर नहीं पड़ा। यद्यपि वह कभी गम्भीर और कभी तेज होनेका प्रयत्न करने लगा था, तो भी वह हँसी उसे सदा धोखा दे जाती थी। वह मेरे मुँहकी ओर देखता-देखता दोहरा होकर खिलखिला पड़ता था।

मुझे याद है, द्वितीय महायुद्धके प्रारम्भिक दिनोंमें वह अचानक कहीं चला गया था। बहुत दिनोंके बाद मैंने उसे दाढ़ी-सहित देखा, तो कुछ अजीब-अजीब-सा लगा। मैं मान लूँ, मुझे हाजी-सरीखा उसका वह रूप अच्छा नहीं लगा था, फिर भी उसे देखकर खुशी होना स्वाभाविक था। मैंने हँसकर कहा, 'क्यों भाई टीपू, कहाँ गायब हो गये थे।'

उसने सदाकी तरह हाथ उठाकर सलाम किया और हँसता हुआ बोला, 'ऐसे ही चला गया था।'

'ऐसे ही कहाँ?'

'नौकरी करने।'

'कहाँ?'

'फौजमें।'

'ओहो, तो टीपू सुलतान फौजमें भरती हो गये थे! क्या हिन्दुस्तानको फतह करनेका इरादा था?'

वह तेजीसे हँसने लगा। बोला, 'अजी, मुझे क्या फतह करना था, मैं तो लकड़ी छीलता हूँ।'

'लेकिन चले क्यों आए?'

'ऐसे ही, जी नहीं लगा, आगे भेजते थे।'

'तो यूँ कहो, डर गए। वाह जी टीपू सुल्तान, तुमने तो अपने नामराशीकी बिलकुल लाज नहीं रखी !'

इस बार वह नहीं हँसा। बस, दोनों हाथोंकी उँगलियोंको मोड़ते हुए बोला, 'अब बाबू· · ·कुछ काम दिलवाइए, गुजारा नहीं होता।'

कहनेमें कुछ ऐसी बात थी, जिससे मुझे चोट लगी। जीवनकी ये चिन्ताएँ उल्लासको कैसे समाप्त कर देती हैं। मैंने भी हँसी छोड़कर गम्भीर होनेकी चेष्टा की। फिर भी मुझे याद नहीं पड़ता, उसने मेरे दफ्तरमें बहुत काम किया हो। वह एक गरीब आदमी था और ठेकेमें पैसेकी जरूरत होती है। फिर भी दुकानका मालिक उसका बड़ा भाई था। मेरा ऐसा अनुभव है कि उसका सलूक टीपूसे बहुत अच्छा नहीं रहा होगा। मुझे एक घटनाकी याद आती है। मैंने उसकी दुकानपर अपनी दो कुर्सियाँ ठीक करनेके लिए भेजी थीं। उसके भाईने लापरवाहीसे कुर्सीकी गद्दी खो दी। खो देना अपने-आपमें कोई बड़ा अपराध नहीं था; पर उसके बाद उसने जो व्यवहार किया, उससे बड़ा खेद हुआ। टीपू उन दिनों बाहर गया हुआ था। उसके लौटनेपर जब मैंने उसे बताया, तो उसे भी दुःख हुआ। पर वह कर क्या सकता था। मैं कुछ करवाना भी नहीं चाहता था।

लेकिन देखता क्या हूँ कि उसके कुछ दिन बाद टीपू सुल्तान मेरे नये घरमें पलँगके पास रखनेवाली एक छोटी मेज लिये चले आ रहे हैं। वैसे ऐसी मेज बनानेके लिए मैंने कभी उससे कहा था, पर उस समय ऐसी कोई बात नहीं थी। फिर भी मैं मेज देखकर प्रसन्न हुआ और उसे धन्यवाद देकर कहा, 'अच्छा, तो कितने पैसे दूँ ?'

वह हँसा, 'तुमसे पैसे लूँगा ?'

'क्यों ?'

'अच्छा, रहने दो।'

'पर सुनो तो।'

'अजी बाबू· · ·रहने दो।'

और वह चलनेको उठा। मैंने विद्रूपसे हँसकर कहा, 'तो यूँ कहो, मुझे रिश्वत देने आए थे।'

उसने जवाबमें इतना ही कहा, 'नहीं, नहीं, रिश्वत दूँगा ?'

बात कुछ इस स्वरमें कही गई थी कि मैं आगे कुछ न बोल सका और वह बिना पैसे लिये चला गया। मुझे ठीक याद नहीं पड़ता, मैंने उसे कुछ खिलाया था या नहीं; पर उसकी निर्दोष और सरल हँसी मुझे आज भी ठीक-ठीक याद है। मैं चाहे उसका चित्र न खींच सकूँ, पर हृदयमें उसकी ध्वनि बराबर अनुभव करता हूँ।

उसके बाद जो समयने करवट ली, तो परिस्थिति और भी बदल गई। वह फिर कहीं चला गया। मैं भी बीमार रहा और छुट्टियोंपर छुट्टियाँ लेता रहा। आखिर एक दिन मैंने नौकरी छोड़ दी और साथ ही वह शहर भी। बीस सालका वह जीवन, बचपनके खेल, दफ्तरकी चख-चख, सार्वजनिक जीवनकी व्यस्तता, मित्रोंका स्नेह—सब एक याद बनकर रह गए। वह याद, जो अब रह-रहकर बिजलीकी तरह छातीमें तड़प उठती है और मैं चौंक उठता हूँ। धीरे-धीरे तीन साल बीत गये। इस तीन सालोंमें जो कुछ हुआ, उसकी याद युग-युगतक संसारको चौंकाती रहेगी। आनेवाले युगका मानव सदा इस दुविधामें फँसा रहेगा कि ईसाकी बीसवीं सदीमें भारतमें आदमी रहते थे या भेड़िये ? उन दिनों हत्या और रक्त-पात साधारण बातें थीं। शिशु और नारीकी कोई मर्यादा नहीं रह गयी थी। उस नगरमें भी आग लग चुकी थी। कुछ दिनतक तो हमें वहाँकी कोई खबर नहीं मिली। और जब मिली, तो टीपूका उसमें कोई जिक्र नहीं था। मैं स्वीकार कर लूँ, मुझे स्वयं उसकी याद धुँधली पड़ गई थी। मैं अपने नातेदारोंके लिए चिन्तित था और यह जानता था कि वहाँके सब मुसलमान पाकिस्तान चले गए हैं; लेकिन बहुत शीघ्र ही मुझे उन मुसलमानोंकी याद आने लगी, जिनकी कड़वी, मीठी स्मृतियाँ मेरे हृदयमें मौजूद थीं। कुछ शान्ति हो जानेपर जब एक मित्र मिले, तो मैंने दिल खोलकर उनसे बातें कीं। जो नाम भी मुझे याद आ सके,

उनके बारेमें मैंने पूछा। बातें करते-करते मित्र बोल उठे, 'टीपूको तुम नहीं भूले होगे।'

'नहीं, नहीं, उसे कैसे भूल सकता हूँ? उसका क्या हुआ? वह कहाँ गया?'

'उसे मारकर लोगोंने मेरे घरके बाहर कुएँमें डाल दिया।'

'क्या?' मेरा हृदय तूफानकी गतिसे धक्-धक् कर उठा।

'हाँ।'

'पर कैसे? वह तो ऐसा नहीं था। उसने क्या किया था?'

मित्रने जो कुछ बताया, उसका आशय स्पष्ट था। उसने अपना काम उसी तरह जारी रखा था। वह अब भी हिन्दुओंके मोहल्लेमें रहता था और निस्संकोच हिन्दुओंके घर काम करने जाता था। उन रक्तरंजित दिनोंमें भी उसने अपना क्रम नहीं छोड़ा। उन्हीं दिनों एक दिन वह एक हिन्दू सेठके घरसे काम करके लौट रहा था। रास्ता एक बड़े बाजारसे होकर जाता था। लोगोंने उसे देखा और रोका, 'अरे, तू उधर कहाँ जा रहा है?'

'दुकानपर।'

'इधरसे मत जा, भाई।'

'क्यों, इधर क्या है?'

'जैसे तू जानता नहीं। आजकल कोई किसीकी नहीं सुनता।'

वह हँस पड़ा। वही अल्हड़ हँसी। बोला, 'मुझे कोई क्या कहेगा?'

और वह आगे बढ़ गया! इस विश्वासीको वे लोग न रोक सके। कुछ दूर बढ़ा होगा कि एक शुभचिन्तकने फिर टोका, 'टीपू, इधरसे न जा, भाई।'

टीपूने अचरजसे उन्हें देखा और फिर लापरवाहीसे जवाब दिया, 'मुझे कोई कुछ नहीं कहेगा।' और वह आगे बढ़ा। कुछ धर्मान्ध नव-युवक उसी मार्गसे जा रहे थे। उन्होंने आँखों-ही-आँखोंमें मन्त्रणा की और

पीछे हो लिये। वह चौराहेके पास पहुँच गया था। बस, दो कदम और···वह बाईं ओर मुड़ जायगा। वहीं कुछ आगे उसकी दुकान है। वह शायद सोच रहा था, 'देखा, मुझे कोई क्या कह सकता है ?'

और ठीक इसी समय एक जोरका ठहाका हुआ। एक ओरसे पिस्तौलकी गोली आई और टीपूके सिरको फोड़ती हुई निकल गई। वह वहीं चौराहेपर गिर पड़ा। वह शायद तड़पा होगा, शायद उसने हाथ-पाँव पटके होंगे···।

मुझे पसीना आने लगा। मेरी आँखें कड़ुवे धुएँसे भर गईं। ओह ! वह मुख, जो सदा एक अल्हड़ हँसीसे चमकता रहता था, उस क्षण कैसा लगता होगा, कैसा···! मुझे विश्वास है, वह तब भी हँसा होगा, वही अल्हड़ और शर्मीली हँसी !

मित्र कह रहे थे, 'धर्मान्धोंने उसे मार तो डाला; पर जैसे इस दुष्कृत्यसे वे काँप उठे। उन्होंने अपने पापको छिपानेके लिए उसे मेरे घरके बाहर कुएँमें डाल दिया। मैं तब घरमें था। एक जोरका धमाका हुआ और मैंने समझा, कुछ गिरा है। पर यह आदमीकी लाश होगी, यह मैं नहीं सोच सका। वह रात-भर वहीं पड़ी रही और उसका भाई बेचैनीसे पुकारता रहा, 'टीपू नहीं आया, टीपू नहीं आया !'

× × ×

पूरे पाँच वर्ष बाद मैं फिर उस नगरमें गया। उसका रूप बिलकुल पलट चुका था। पुराने चेहरे गायब हो चुके थे और नई-नई मूर्तियाँ उभर रही थीं। मुसलमान नामके जीवका वहाँ अस्तित्व भी नहीं था। टीपू अगर जीता रहता, तो मैं भी उसे न देख पाता; लेकिन जब मैं उस चौकमें गया, जहाँ हम चाँदनी रातमें कबड्डी खेला करते थे, उस दुकान-के पाससे गुजरा, जहाँ बैठकर टीपू काम किया करता था, उस स्थानको देखा, जहाँ उसको गोली मारी गयी थी और उस कुएँपर पहुँचा, जिसमें उसकी लाश डाली गयी थी, तो मैं बराबर उसकी वह अल्हड़ हँसी सुनता

रहा और काँपता रहा। एक बार तो मुझे ऐसा लगा, जैसे वह मेरे कानमें कह रहा हो, 'मुझे कोई क्या कहेगा···?'

तब मेरी आँखें भर आईं और मैं फुसफुसा उठा, 'टीपू, मैसूरका वह टीपू सुलतान तुम्हारे सामने कुछ नहीं है। तुमने अपने प्राण देकर विश्वासकी रक्षा की है। इसी विश्वासके बलपर एक दिन मानवता फिर जी उठेगी, निस्सन्देह जी उठेगी। उस दिन तुम्हारे-जैसे हिन्दू-मुसलमानों-को —नहीं-नहीं मानवोंको— -सारा संसार सिर झुकायेगा।'

जून १९५०

: २० :

सुधीन्द्र

सन् १९५० के सितम्बर मासका वह दृश्य रह-रहकर आँखोंमें उभर आता है।

भारतकी राजधानी दिल्लीका एक प्राचीन मोहल्ला, अपेक्षाकृत खुले मकानके दुमंजलेपर एक प्रशस्त कमरा, मेज-कुर्सी भी और फर्शपर चटाई भी, चटाईपर पुस्तकों और पत्रिकाओंका अस्त-व्यस्त ढेर, चारों ओर लिखे-अधलिखे सुन्दर लाइनदार, सफेद कागज फड़फड़ाते हुए और बीच-में बैठा एक सुदृढ़ और स्वस्थ शरीरका एक व्यक्ति; चश्मेके पीछेसे झाँकते उसके प्रेमिल-नयन, माथेपर झुकनेको आतुर घुँघराले बाल, होठोंपर खेलती चिर मृदु मुस्कान, स्मित हास्यसे आलोकित मुखमण्डल; शरीरपर एकमात्र धोती जिसका एक छोर कन्धेसे होकर पीठपर झूल आया है; कभी वह इस पत्रिकाको उलटता है, कभी उस पुस्तकको खोलता है और फिर लिखनेमें व्यस्त हो जाता है।···

बच्चे इधर-उधर घूमकर आते और कौतूहलसे उसे देखने लगते। वह कभी दृष्टि उठाकर मुस्करा देता, कभी एक-दो बातें भी कर लेता। एक स्त्री चुपके-चुपके विनम्र भावसे आती, पासमें चायका गिलास और नाश्तेकी तश्तरी रख जाती। लेखक उसे देखता, टुकड़ा तोड़कर मुँहमें रखता, चायका घूँट भरता और फिर लिखने लगता···।

पत्रोंकी खड़खड़ाहट, बच्चोंकी किलकारियाँ, घरके दूसरे लोगोंकी व्यस्तता, पड़ोसका शोर जो कभी रुद्र रूप हो उठता, तो कभी गुनगुनाने

लगता, लेकिन लेखक उसी व्यस्त भावमें लिखता रहता, बस लिखता रहता ।

और पासमें मेज कुर्सीपर बैठा उसका मित्र उसे देखता रहता, देखता रहता । और जब प्रूफ लेकर प्रेसका आदमी आ जाता तो व्यस्तता और भी मुखर हो उठती…।

प्रारम्भमें मित्रने बहुत चाहा कि वह लेखकके साथ चाय पिये, खाना खाये पर लेखक तो इतना व्यस्त और इतना अनियमित कि आप-ही-आप एक कमरेमें बैठकर भी वे दोनों एक-दूसरेके लिए विदेशी बन गये । आखिर मित्रने लेखकको उसीपर छोड़ दिया । छोड़ देना पड़ा । रात आ जाती और उस गरमीमें भी वह उसी कमरेमें, उसी तरह, उसी चटाईपर पड़कर सो जाता । रोशनी जलती रहती और बाहर मित्रके पास बिछी उसकी चारपाई सूनी पड़ी रहती । हाँ, कभी ध्यान आता तो वह तुरन्त नहा-धोकर कागज बटोरता, जल्दी खाना खाता और कपड़े पहनकर बाहर चला जाता । फिर रात गहरा उठती, घड़ीकी सूइयाँ एक चक्र पूरा करके दूसरेमें प्रवेश करतीं पर जानेकी तरह उसके लौटने-का भी कोई समय नहीं था…।

मित्रकी पत्नी कहती, 'बड़ी मेहनत करते हैं ।'

बच्चे कहते, 'चाचाजी, हर वक्त लिखते हैं । क्या लिखते हैं ?'

माँ कहती, 'तेरा दोस्त कैसा है ? न खाने-पीनेकी सुध, न सोनेका ध्यान ।'

मित्र गम्भीरतासे जवाब देता, 'इन्हें परीक्षा देनी है । उसीके लिए पुस्तक लिख रहे हैं । यह पुस्तक मंजूर हो गई तो यह डाक्टर बन जायँगे ।'

'डाक्टर ।'

'हाँ, एम० ए० करनेके बाद जो परीक्षा होती है उसे पास कर लेने-पर डाक्टर कहलाते हैं ।'

कभीकी बीत चुकी थी। सब सो गये थे पर उनके कमरेमें प्रकाश हो रहा था। वह आये चुपचाप, बिल्लीकी तरह सतर्क, जीना चढ़कर मुड़े कि किसी तरह कमरेमें प्रवेश पा जायँ। फिर तो वह पलंगपर लेट सकते थे, भले ही तब गर्मी थी और उनका बिस्तर बाहर छतपर लगा था। लेकिन पैर छज्जेपर रखा ही था कि मित्रकी माँ बोल उठीं, 'आ गये।'

अपराधीकी-सी वाणीमें सलज्ज भावसे वह बोले, 'जो बड़ी देर हो गई।'

'हाँ, हाँ, देर तो हो गई। तुम्हारा दोस्त सो भी गया पर खाना रखा है।'

'खाना ! ! !'

'हाँ, खाओगे नहीं।'

'अब !'

लेकिन यह सब क्षणिक था। दूसरे ही क्षण उन्होंने सहजभावसे कहा, 'अच्छा अम्मा, ले आओ।'

दो बज रहे थे। वह खाना खा रहे थे और माँ उनसे बातें कर रही थी परिवारकी, पुस्तककी।

खाना उनकी दुर्बलता थी। इस बातको लेकर मित्र अकसर उनका मजाक उड़ाया करते थे। वह कहा करते थे कि रातको जब भी मेरी आँख खुल जाती है तो भूख लग जाती है। इसीलिए सोते समय जब मित्रकी पत्नी खाटके पास पानी रखने आती तो मित्र कह उठते, 'अरे भई ! पानीसे नहीं चलेगा। एक कटोरदानमें दो परावठे भी रख दो। आँख खुल गई तो भूखे रहेंगे।'

वह न तो झेंपते, न चिढ़ते, बस हँस पड़ते, 'नहीं, नहीं, आज नहीं। वह हमेशा थोड़े ही होता है।' मजाकमें रस लेना उन्हें आता था। अवसर आनेपर वह स्वयं ऐसी चुटकी लेते थे कि हँसी स्वयं अट्टहास

कर उठती पर वह अट्टहास नहीं करते थे। उनकी सम्पत्ति तो वही चिरपरिचित अहिंसक हँसी थी।

वह जितने विनम्र थे, उतने ही साधक भी थे। ब्रह्मदत्त शर्मासे डा० सुधीन्द्र बननेका इतिहास इसी साधनाका इतिहास है। उन्होंने साहित्यरत्न किया, हिन्दी-अंग्रेजीमें एम० ए० की डिग्री ली, डाक्टर बने, अनेकों पुस्तकें लिखीं। वह निरन्तर कर्मरत रहे, विराम लगाना उन्होंने नहीं सीखा था। सरिताकी गतिशीलता ही उनका मूलमंत्र थी।

वह हिन्दीके प्रसिद्ध लेखक थे। कविता, आलोचना, नाटक, कहानी, सभी कुछ उन्होंने लिखा पर मूलतः वह कवि थे और हृदयके कवि थे। उन्होंने उस युगमें कविता शुरू की जब देशकी तरुणाई दासतासे जूझ रही थी। उस कालकी उनकी कविताओंमें भी वही स्वर प्रमुख है। जौहर, शंखनाद, प्रलय वीणा उसी कालकी उपज हैं। बादमें जब वह रहस्यवादकी ओर झुके तो उनकी लेखनीने कम आदर नहीं पाया। उन्होंने प्रेम-गीत भी लिखे और उसी लगनसे लिखे। वह शिवत्वके उपासक थे पर सुन्दरम्के विरोधी नहीं थे। उनका रुझान विलासिता-की ओर नहीं था, सस्ती कामुकतासे उन्हें घृणा थी। आज हिन्दीमें उर्दू गजल और रूबाईका स्वर काफी मुखरित हो उठा है, उस क्षेत्रमें भी सुधीन्द्र अग्रणी थे। वह बड़े सुन्दर अनुवादक भी थे। गीतांजलिका अनुवाद उन्होंने किया था लेकिन उनका स्वर प्रौढ़ हो पाता, उनकी लेखनी अमर काव्यकी जननी हो पाती कि उससे पूर्व ही उनका वर्तमान व्यतीत बन गया।

उन्होंने पुलिसके दफ्तरमें क्लर्की की, पत्रोंका सम्पादन किया, नेता और वजीरके निजी मंत्री बने पर थे वह अध्यापक। अन्ततक अध्यापक ही रहे और शानसे रहे। बीचमें कुछ कालके लिए वह राजस्थानके एक वजीरके निजी मंत्री बन गये थे। साहित्यका साधक राजनीतिके मोहक चक्रव्यूहमें फँस चला था। मित्र नाराज थे पर वह मुसकराते ही

रहे। परन्तु वह दुर्बलता अन्तमें अस्थायी प्रमाणित हुई और वह फिर अध्यापक बन गये। वनस्थली विद्यापीठ और आगरा कालेज होते हुए वह मृत्युके समय अजमेरके सरकारी कालेजमें हिन्दी विभागके अध्यक्ष थे।

लेकिन वह कहींपर हों, किसी पदपर हों, उनकी लोकप्रियतापर कभी आँच न आई। वह जिसके भी सम्पर्कमें आये हमेशाके लिए उसके मित्र बन गये। वह विशुद्ध गाँधीवादी थे पर उनकी मित्रताने कभी सिद्धान्तोंका बन्धन स्वीकार नहीं किया। उनके मित्रोंमें सभी विचारोंके व्यक्ति थे जो उनकी विशुद्ध मानवता और स्नेहभरी ममताके प्रशंसक थे।

सन् १९५१ की बात है। वह विद्यापीठके कच्चे घरमें रहते थे और वार्षिक उत्सवपर उनके पास ठहरा था। एक रात अचानक नारी कण्ठकी खिलखिलाहट सुनकर आँख खुल गई। कई क्षण कुछ समझमें नहीं आया कि मैं स्वप्न देख रहा हूँ या जाग रहा हूँ। उस घोर अन्धकारमें कहीं कोई नारी व्यग्रतासे बोले चली जा रही थी और सुधीन्द्र कभी हँस देते थे, कभी एकाध वाक्य बोल देते थे।

जब चेतना लौटी तो जाना कि विद्यापीठकी एक पुरानी छात्रा उत्सव-पर आई थी और सवेरे चार बजे ही उसे जाना था सो अब रातमें दो बजे अपने 'दादा'से मिलने आई थी। उसका विवाह हो चुका था लेकिन पूर्वाश्रमका स्पर्श पाते ही जैसे उसकी अल्हड़ता लौट आई थी और वह बोले चली जा रही थी, बोले चली जा रही थी, कौन लड़की कहाँ है, किसकी शादी हुई, कैसे रहती है, अपने नये जीवनके अनुभव, दादाका परिवार कहाँ है, भाभी अस्पतालसे कब लौटेंगी, इत्यादि,इत्यादि। उसकी साथिन पुकारती, 'चलेगी भी अब। दादाको सोने दे।' उत्तर मिलता, 'चलती हूँ। चलती हूँ, अच्छा दादा जाती हूँ प्रणाम।' फिर क्षणिक सन्नाटा, पदचाप, फिर वही अल्हड़ स्वर, 'दादा, हाँ दादा एक बात

तो…।' और फिर नया सूत्र, फिर नई खिलखिलाहट, फिर विदाका अभिनय…।

वनस्थली-विद्यापीठके उस तीन-चार दिनके प्रवासमें उनकी लोकप्रियता, उनके प्रति वहाँकी छात्राओंके नैसर्गिक स्नेहने मुझे बहुत प्रभावित किया। वह उनके गुरु नहीं थे 'प्रेमिल दादा' थे। आत्मीयतासे ओतप्रोत, स्नेहसे छलछलाते पर मर्यादा और संयमकी प्रतिमूर्ति। छात्रायें उन्हें बहिन-से निश्छल स्नेहसे प्रेम करतीं, उनकी खिल्ली उड़ातीं, उन्हें तंग करतीं पर एक क्षणके लिए भी आत्मीयताको पीछे करके उपेक्षा या अनादरका भाव आगे नहीं आता।

उनसे मेरा प्रारम्भिक परिचय पत्रों द्वारा हुआ था। वह तब शायद 'जीवन साहित्य'के सम्पादक थे और 'हंस'में प्रकाशित मेरे एक लेखको सैर-सपाटेमें उद्धृत किया था। बादको दिल्लीमें उनसे मिला। याद है पहली भेंटमें हम दोनों एक-दूसरेके लिए प्रश्नवाचक ही बने रहे थे। आज भी जब उस भेंटकी याद करता हूँ तो लज्जित हो उठता हूँ। वह मेरे घर ही मुझसे मिलने आये थे, उसी घरमें जिसमें बादमें वह परिवारके प्राणी बन कर रहे। उस पहली भेंटमें वह वैसे ही सरल थे जैसे वह अन्तिममें थे। वस्तुतः उनकी सरलता हृदयको छूती थी। उनके मस्तिष्कपर उनका हृदय हावी था। इसीलिए उनके साहित्यमें मस्तिष्ककी प्रौढ़ता या गहनता भले ही न हो पर हृदयकी प्रेमिल निष्कपटता अवश्य है। आक्रोश और अप्रसन्नता उनकी सम्पत्ति नहीं थी, उनकी सम्पत्ति थी सरलता और भोलापन, लेकिन यही सम्पत्ति उनकी दुर्बलता भी थी। मित्रोंके कटाक्षोंको वे सहज भावसे पी सकते थे पर इसी कारण आजके कूटनीतिके युगमें बहुत-से काम करनेके बिलकुल अयोग्य थे। बड़ी सरलतासे वह बहुत-से काम अपने ऊपर ले लेते थे जिन्हें वह पूरा नहीं कर पाते थे, कर नहीं सकते थे। वह कवि जो थे, राजनीतिज्ञकी कुशलता कहाँसे लाते। वह आलसी बन गये थे पर उनका आलस्य

कविका आलस्य था। अनुवाद करनेके लिए लेख, आलोचना करनेके लिए कई पुस्तकें वह ले गये पर वे लौटकर नहीं आईं। पत्र लिखता तो जवाब देते, अभी भेज रहा हूँ। मिलते तो कहते, 'इस बार जाकर जरूर भेज दूँगा लेकिन आओ, अब तुम्हारा एक फोटो खींच लूँ।'

और तुरन्त कैमरा लेकर चल पड़ते। भला ऐसे व्यक्तिसे कोई कैसे नाराज हो। दिल्ली हो चाहे वनस्थली, जयपुर हो या कोटा, मैंने उन्हें इसी तरह प्रेमिल और निश्छल पाया। उनके साथ की गई जयपुरकी उस सैरकी याद करके आज भी हृदय भर आता है। कितना ध्यान रखते थे वह मित्रोंका।

उनका अन्त उनके अनुरूप था। कोई तैयारी नहीं। मृत्यु-शय्या-पर भी उसी अल्हड़तासे मित्रोंको विश्वास दिलाते रहे, 'चिन्ता मत करो मैं ठीक हो जाऊँगा।' पर फिर चुपचाप चले गये। न जाने तब उनका आलस्य कहाँ चला गया था। वह भूल गये कि इस आयुमें नहीं मरा जाता। पर मना करना तो वह जानते ही नहीं थे। मौतने उन्हें पुकारा और स्वभावके अनुरूप सहजभावसे वह उसका आमंत्रण स्वीकार कर बैठे। जैसे यह भी कवि-सम्मेलनका निमंत्रण हो''गायकका कण्ठ न पाकर भी वह अपनी कविताएँ गाने लगते थे।

साथियोंमें वह बहुतोंसे छोटे थे पर इस दौड़में सबसे आगे निकल गये। मित्रोंका स्नेह, परिवारका विछोह, कुछ भी उस हंसको न बाँध सका। आज बस उनकी याद शेष है। उनमें प्रदर्शन नहीं था, दिखा-वटी शिष्टता और सौहार्द भी नहीं था। पर सहज ईमानदारी और सहज सरल प्रेमसे वह छलछलाये थे। वह अध्यापक बन गये थे, राजनीतिज्ञ बननेकी धुन भी उन्हें थी पर थे वह कवि और साहित्यिक, साधनाके साहित्यिक, जन्मजात नहीं, उन्हींके गुण-अवगुण उनके गुण-अवगुण थे, सतत साधना, सतत संघर्ष, स्निग्ध विनम्रता, सहज संवेदन और सहज भोलापन। इन्हींके कारण वह मौतके प्रिय बने।

उनका वह गठा हुआ शरीर, चश्मेके पीछेसे झाँकते प्रेमिल नयन, स्मित हास्यसे मण्डित मुख, सरल वाणी, अचकन और चूड़ीदार और नंगा सिर और भारी-सा पोर्टफोलियो, वह रूप आज भी आँखोंमें उभर-उभर आता है और जी भर उठता है। वह रूप अब कहाँ दिखाई देगा। मनुष्य असमयमें क्यों मर जाते हैं। क्यों?

२ फ़रवरी १९५५

यान्त्रिक युगमें ऐसी सहज सहानुभूति, ऐसा विलक्षण मौन, एक शब्दतक नहीं। यही नहीं, जब मैंने धीरे-धीरे वे रुपये लौटाने शुरू किये तो बार-बार उन्होंने लिखा, "भेजनेकी इतनी जल्दी क्या थी। अभी वही तो अन्तिम साधन नहीं रह गया था। सुविधा और धीरजसे भेजनेसे भी मुझे फिलहाल कोई कष्ट नहीं होता। आप बार-बार चेक क्यों भेज रहे हैं। विश्वास रखें, इन पैसोंके बिना मेरी किश्ती रुकेगी नहीं।" और जब खेती करने लगे तब और भी मस्तीसे लिखा, "आपको तो शहरमें पैसोंकी अधिक आवश्यकता रहती है। मैंने तो दूध पीनेको एक भैंस और अण्डे खानेको कुछ मुर्गियाँ ले ली हैं। खुली जंगलकी आबहवा है, बिना किरायेकी झोंपड़ी। पैसेकी निर्वाहके लिए अनिवार्य आवश्यकता नहीं रही।"

ये दिन उनके लिए आर्थिक संकटके थे। पत्नी सेनोटोरियममें थी और वह हैदराबाद छोड़ चुके थे। सोचता हूँ तो हतप्रभ रह जाता हूँ। उनका समूचा व्यक्तित्व आँखोंमें उभर आता है, गठा हुआ शरीर, मुख-पर अल्हड़ विश्वास, नयनोंमें स्नेहिल दीप्ति। कहीं कठोरता नहीं, शंका भी नहीं, जहाँ बैठते वहाँका वातावरण विनोदमय विवादसे गूँजता रहता। व्यवहार एकदम मुक्त और अनौपचारिक था। वे पहली भेंटमें ही मित्र बन जानेवाले व्यक्ति थे और उनकी मित्रताका अर्थ, आजकी परिभाषामें मात्र परिचय ही नहीं था। वे उस व्यक्तित्वके स्वामी थे जो देश, काल, जाति, समाज किसीकी भी सीमा नहीं जानता। उसकी सीमा है केवल एक अबाध निर्द्वन्द्व मानवता।

ठेठ उत्तरमें फर्रुखाबाद जिलेमें वे पैदा हुए और हैदराबाद दक्खिनमें उनकी मृत्यु हुई। उन्होंने वनस्थली विद्यापीठ, जयपुर, राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा तथा हैदराबादकी अनेक शिक्षा-संस्थाओंमें काम किया। वे एक साथ पत्रकार, लेखक और अध्यापक थे। वे सम्पादक भी रहे और संचालक भी। उन्होंने राजनीतिक आन्दोलनोंमें सक्रिय भाग लिया। तोड़-

फोड़ भी की और खेती भी की। वे सदा कुछ करनेको आतुर रहते थे, कुछ नया, कुछ अनोखा, कुछ साहसिक। और उसके लिए जमी-जमायी नौकरी, गृहस्थी सब उखाड़ देना उनके लिए बायें हाथका खेल था। न जाने कितनी बार उस उड़ते पंछीने अपना रक्त देकर नीड़ बनाया और एक दिन उसे वैसा ही छोड़कर एक दूसरी मंजिलकी ओर उड़ गया, पीछे मुड़कर देखा भी नहीं। वे इतने निर्मोही थे, फिर भी सच्चे मित्र थे। अनासक्त ही तो मित्र बन सकता है। लेकिन जहाँ एक ओर वे इतने अनासक्त थे वहाँ दूसरी ओर उनमें कमजोरियाँ भी थीं। वे किशमिश खूब खाते थे। खीर सामने देखकर सब-कुछ भूल जाना उनका स्वभाव था।

रंजनजी अलमस्त थे और निर्मोही भी, पर जो काम वे उठा लेते थे, उसके लिए एक बार तो जान खपा देते थे। वे राष्ट्रीय आन्दोलनोंमें बार-बार सच्चे सैनिकोंकी भाँति जूझे। जमींदोज रहे। ४२ में तो जेलतक तोड़ डाली और बड़ी शानसे तोड़ी। उस तैयारीमें वे शिलाएँ उठा-उठाकर बोझ उठानेका अभ्यास किया करते थे। फिर ऐसे गायब हुए कि पुलिस देखती ही रह गयी। राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धामें रहे तो अपनी कार्यकुशलताकी धाक जमा दी। चार-पाँच वर्ष वहाँ रहे। जबतक रहे, उसके स्तरको निरन्तर ऊँचा ही उठाया। बड़े प्रेम और लगनसे समितिके नये भवनका निर्माण कराया। अपने रहनेके मकानके बननेमें ऐसी रुचि ली कि जैसे शेष जीवन उसीमें व्यतीत करना है। पर एक दिन मन उचटा तो क्षणभरमें सब कुछ छोड़कर पहुँच गये हैदराबाद। वहाँ 'उदय' और 'कल्पना'का सम्पादन किया। चेतना प्रकाशनकी नींव जमायी। रायबहादुर सर बंशीलाल बालिका विद्यालयमें अध्यापक रहे। लेकिन जो स्वप्न लेकर वहाँ गये थे, वे पूरे नहीं हुए। वे समाजवादी थे। उस पार्टीमें बहुत काम किया। पर शीघ्र ही साथियोंके प्रति उन्हें जो विश्वास था वह टूट गया। दुखी दिलसे उन्होंने मुझे लिखा, "इस स्थानसे दकदम घोर नफरत हो गयी है। इस नतीजेपर पहुँचा हूँ कि ''बच्चा वर्तमान अवस्थामें न तो

समाजवादी हो सकता है और न प्रगतशील। यह सब उन लोगोंका ढोंग है।"

उन दिनों उनकी मानसिक अशान्तिके काफी कारण थे। पत्नी सेनीटोरियममें थी। स्थानीय साथियोंसे सम्बन्ध बिगड़ गये थे, जीविकाका प्रश्न सामने था। फिर भी वे एक क्षणके लिए दूसरे नहीं हुए, वही अलमस्त निर्द्वन्द्व रंजन बने रहे। विद्युत् जैसी स्फूर्तिसे वहाँकी गृहस्थी समेटी और चल पड़े खेती करने। जमीनकी टोहमें खूब घूमे, लू खाकर बीमार भी पड़ गये। उस बीमारीमें मैंने उन्हें पाससे देखा। उनके अभिन्न मित्र यशपाल सपरिवार कहीं चले गये थे। जैनेन्द्रजीके परिवारने उनकी देख-भाल की, पर उनका साहस, दूसरेके प्रति उनकी ममता, उनकी शान्ति देखकर दंग रह जाना पड़ा। आदर भी बढ़ा।

स्वस्थ होते ही वे मध्यप्रान्तके श्योपुर गाँवमें जम गये। खेतीके काममें वे उसी तन्मयतासे कूद पड़े जिस तन्मयतासे वे सम्पादन और अध्यापनका कार्य करते थे। मित्र लोग उनके इस प्रयोगको बड़ी उत्सुकतासे देख रहे थे कि अचानक एक दिन नागपुर मेडिकल कॉलेजसे उनका पत्र आया। बचपनमें हुए किसी रोगके कारण उन्हें दिलकी बीमारी हो गयी थी, लेकिन यह नादिर रोग भी उस विश्वासीका विश्वास न डिगा पाया। उन्होंने १३-२-५३ के पत्रमें मुझे लिखा, "प्रवेशके दिन फी मिनट १३५ हृदयकी अनियमित गति थी और ११५ नाड़ीकी। आज ८४ और ८० तक उतर आयी है। मेरे देखते-ही-देखते इस वार्डमें तीन केस इस बीमारीके चल बसे, पर अपनेको तो अभी बहुत दिन जीवित रहना है।"

काल उनके इस अल्हड़ विश्वासपर हँस सकता है, क्योंकि उसके बाद वे दो वर्ष भी इस संसारमें न रहे। लेकिन साथ ही वह यह भी जानता है कि जबतक रहे जीते रहे। डॉक्टरने कहा कि यह राजनीति, यह खेती सब छोड़ दो और ठण्डे स्थानमें रहो। सो उन्हें कुछ दिन वर्धामें कैदी

बनकर रहना पड़ा, "एक छोटा-सा घर किरायेपर ले लिया है, उसीमें रहता हूँ। चारपाईपर बैठे आठ घण्टे लिखता-पढ़ता हूँ। बाकी समय आराम, सोनेमें जाता है। टण्डनजीका पत्र आया था कि पुनः समितिमें काम करने लगो, पर अपना मन नहीं करता। डॉक्टरोंने किसी ठण्डी जगह जानेको कहा है। शायद हैदराबाद या पूना जाऊँ।"

और उन्हें फिर हैदराबाद जाना पड़ा। चक्र उल्टा घूम पड़ा। पर शीघ्र ही सब कुछ भूलकर वे फिर शिक्षाके क्षेत्रमें कूद पड़े। नानकराम भगवानदास विज्ञान विद्यालयके प्रिन्सिपलके रूपमें उन्होंने जो काम किया वह उनकी प्रतिभा और मौलिक सूझ-बूझका परिचायक है। उन्होंने वहाँके स्कूल विभागमें ऐसा प्रबन्ध किया था कि महीनेमें एक बार हेडमास्टरसे लेकर चपरासीतकका काम विद्यार्थी करें। वहाँ आज भी ऐसा ही होता है और बड़ी कुशलतासे होता है। उनके कठिन परिश्रम और गिरते स्वास्थ्यकी बात सुनकर मैंने उनसे शिकायत की कि रोगका ध्यान क्यों नहीं रखते। उन्होंने तुरन्त लिखा, "तुमसे अब भी अच्छा हूँ। आये दिन चारपाईपर रहते हो। मैंने राजरोगी होते हुए भी कुल तीन दिनकी छुट्टी ली है।"

हारना तो वे जानते ही नहीं थे। मृत्युसे भी नहीं हारे। वे जान गये थे कि किसी दिन ऐसे ही चल देना है। कभी-कभी पत्रोंमें लिखते भी थे। पर जीना उन्होंने नहीं छोड़ा था। कुछ दिन पूर्व हाथ टूट गया था। उसीके कारण मस्तिष्कमें कहीं गड़बड़ी हो गयी थी। कभी-कभी याद न रहनेकी शिकायत करते थे पर काम उनका एक क्षणको भी नहीं रुका। अन्तमें एक रातको अचानक मस्तिष्कमें रक्तस्राव होनेके कारण उनके दाहिने अंगपर पक्षाघातका आक्रमण हुआ और वे अचेत हो गये। उस्मानिया अस्पतालमें सब कुछ करनेपर भी १८ जनवरीको सवेरे वे चले ही गये।

रंजनजीके मानसिक गठनका व्यक्ति घुमक्कड़ हुए बिना नहीं रह

मकता। वे भी घुमक्कड़ थे। बर्मा, मलाया, स्याम आदि सभी स्थानोंपर घूम आये थे और इस बीमारीके दिनोंमें भी कालेजकी छुट्टियोंमें जा पहुँचे लंका। इन यात्राओंका उन्होंने बड़ा रोचक वर्णन लिखा है। उनकी दृष्टि बड़ी पैनी थी। वे समाजवादी थे। पर ये वाद उनकी मानवतामें कभी कोई दरार नहीं पैदा कर सके। मित्रोंके पत्रोंकी राह वे बड़ी उत्सुकतासे देखा करते थे। जरा देर हुई नहीं कि उन्होंने लिखा, "आप तो जैसे भूल ही गये। एक युगसे आपका पत्र नहीं आया। क्या लेखक और किसानमें इतनी विषमता होती है कि पूर्व-सम्बन्ध भी मृत हो जायँ।" अभी भी कुछ दिन पूर्व उन्होंने कई बार यही शिकायत की। पर मैं उन्हें कुछ लिख पाता इसके पूर्व ही वे सदाके लिए रूठ गये। अब किसको लिखूँ? वे दूसरोंका कितना ध्यान रखते थे वह बतानेकी नहीं, अनुभव करनेकी बात है। कितनी ही बार भाईके-से स्नेहसे उन्होंने मुझे सुझाव दिये। अपनी सक्रिय सहानुभूतिका वचन दिया।

दूसरोंकी कमजोरियोंको वे बड़ी सरलतासे नजर-अन्दाज कर देना जानते थे। याद है, हैदराबादमें भाई यशपाल उनके एक मित्रसे अपना वायदा पूरा न करनेपर कुछ नाराज हो गये थे। उन्होंने कहा कि यह उपेक्षा जान-बूझकर दिखाई गयी है। इसपर रंजनजी बोले, "यह तुम्हारे मनकी बात है। क्या यह सम्भव नहीं है कि कोई ऐसी बात हो गयी हो जिसके कारण वे वायदा पूरा न कर सके हों। बिना स्पष्ट कारण जाने किसीकी निन्दा करना उचित नहीं है।"

उनकी पत्नी शान्ताजीने एक बार सेनीटोरियमसे लिखा था, "मुझे कितना महान् पति मिला पर मैं उनके योग्य न बन पायी।" और जब यह महान् उन्हें छोड़ ही गया तो वे लिखती हैं, "मुझे कुछ भी समझमें नहीं आता यह सब हो क्या गया। खैर, अब जो कुछ भी होगा देखती जाऊँगी व आगे बढ़ूँगी। मेरी जिन्दगी अब जिन्दगीके रूपमें आ गयी।

अब मैं दुनियामें हूँ। अबतक तो सपनेमें विचरण करती थी, लेकिन अब ठोस दुनियामें हूँ।"

ये वाक्य रंजनजीकी सहधर्मिणी ही लिख सकती हैं। जो उनके सम्पर्कमें आया उसे उनके अदम्य विश्वास और कर्मठ जीवनने अवश्य छुआ। वह भी विश्वासी और कर्मशील बनकर रहा। क्या यह चकित कर देनेवाली बात नहीं है कि उनकी मृत्युके तीन सप्ताह बाद ही शान्ताजीने एक स्कूलमें नौकरी कर ली है। उनका शरीर रुग्ण है, उनका प्रिय साथी बिछुड़ गया है, पर उसी प्रियको स्मृति-स्वरूप दो बच्चोंका पालन भी तो उन्हें करना है। वर्तमान लुट गया है, लेकिन उसी कारण भविष्यको भी क्या नष्ट कर देना होगा?

रंजनजी बड़े पत्रकार थे, सुन्दर लेखक थे, महान् शिक्षक थे, सजग सम्पादक थे, राष्ट्रसेवी आन्दोलनकारी भी थे, पर इन सबसे बढ़कर वे सच्चे मित्र थे और उससे भी बढ़कर संवेदनशील मानव। वे उन दुर्लभ गुणोंके आगार थे जो इस युगमें खो-से गये हैं। जिस कामको वे हाथमें लेते थे, उसमें डूब जाते थे; जिसके सम्पर्कमें आते थे, उसके हो जाते थे। उन्होंने देश-सेवाके लिए सरसे कफन बाँधा। स्वास्थ्य धोखा न देता तो वे आदर्श किसान बनते। प्रचार और प्रदर्शनके वे शत्रु थे। 'कृतम् मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहत'—मेरे दाहिने हाथमें कर्म और बायेंमें जय है, इस मन्त्रके वे उपासक थे।

उनका वह छा जानेवाला अदम्य व्यक्तित्व, सुदृढ़ शरीर, आत्मीयतासे ओत-प्रोत मुसकराते नयन, स्नेहसे छलछलाता अनासक्त हृदय, सदा कर्मरत शान्त मस्तिष्क, दूसरोंकी दुर्बलताओंको समझनेवाली दृष्टि और अनौपचारिक व्यवहार, वह सब आज कहानी बन गयी है। उनकी पत्नी और उनके बच्चे ही नहीं, उनके मित्रोंका एक विशाल परिवार उनके अभाव-

मकता। वे भी घुमक्कड़ थे। बर्मा, मलाया, स्याम आदि सभी स्थानोंपर घूम आये थे और इस बीमारीके दिनोंमें भी कालेजकी छुट्टियोंमें जा पहुँचे लंका। इन यात्राओंका उन्होंने बड़ा रोचक वर्णन लिखा है। उनकी दृष्टि बड़ी पैनी थी। वे समाजवादी थे। पर ये वाद उनकी मानवतामें कभी कोई दरार नहीं पैदा कर सके। मित्रोंके पत्रोंकी राह वे बड़ी उत्सुकतासे देखा करते थे। जरा देर हुई नहीं कि उन्होंने लिखा, "आप तो जैसे भूल ही गये। एक युगसे आपका पत्र नहीं आया। क्या लेखक और किसानमें इतनी विषमता होती है कि पूर्व-सम्बन्ध भी मृत हो जायँ।" अभी भी कुछ दिन पूर्व उन्होंने कई बार यही शिकायत की। पर मैं उन्हें कुछ लिख पाता इसके पूर्व ही वे सदाके लिए रूठ गये। अब किसको लिखूँ? वे दूसरोंका कितना ध्यान रखते थे वह बतानेकी नहीं, अनुभव करनेकी बात है। कितनी ही बार भाईके-से स्नेहसे उन्होंने मुझे सुझाव दिये। अपनी सक्रिय सहानुभूतिका वचन दिया।

दूसरोंकी कमजोरियोंको वे बड़ी सरलतासे नजर-अन्दाज कर देना जानते थे। याद है, हैदराबादमें भाई यशपाल उनके एक मित्रसे अपना वायदा पूरा न करनेपर कुछ नाराज हो गये थे। उन्होंने कहा कि यह उपेक्षा जान-बूझकर दिखाई गयी है। इसपर रंजनजी बोले, "यह तुम्हारे मनकी बात है। क्या यह सम्भव नहीं है कि कोई ऐसी बात हो गयी हो जिसके कारण वे वायदा पूरा न कर सके हों। बिना स्पष्ट कारण जाने किसीकी निन्दा करना उचित नहीं है।"

उनकी पत्नी शान्ताजीने एक बार सेनीटोरियमसे लिखा था, "मुझे कितना महान् पति मिला पर मैं उनके योग्य न बन पायी।" और जब यह महान् उन्हें छोड़ ही गया तो वे लिखती हैं, "मुझे कुछ भी समझमें नहीं आता यह सब हो क्या गया। खैर, अब जो कुछ भी होगा देखती जाऊँगी व आगे बढ़ूँगी। मेरी जिन्दगी अब जिन्दगीके रूपमें आ गयी।

अब मैं दुनियामें हूँ। अबतक तो सपनेमें विचरण करती थी, लेकिन अब ठोस दुनियामें हूँ।"

ये वाक्य रंजनजीकी सहधर्मिणी ही लिख सकती है। जो उनके सम्पर्कमें आया उसे उनके अदम्य विश्वास और कर्मठ जीवनने अवश्य छुआ। वह भी विश्वासी और कर्मशील बनकर रहा। क्या यह चकित कर देनेवाली बात नहीं है कि उनकी मृत्युके तीन सप्ताह बाद ही शान्ता-जीने एक स्कूलमें नौकरी कर ली है। उनका शरीर रुग्ण है, उनका प्रिय साथी बिछुड़ गया है, पर उसी प्रियको स्मृति-स्वरूप दो बच्चोंका पालन भी तो उन्हें करना है। वर्तमान रूठ गया है, लेकिन उसी कारण भविष्य-को भी क्या नष्ट कर देना होगा?

रंजनजी बड़े पत्रकार थे, सुन्दर लेखक थे, महान् शिक्षक थे, सजग सम्पादक थे, राष्ट्रसेवी आन्दोलनकारी भी थे, पर इन सबसे बढ़कर वे सच्चे मित्र थे और उससे भी बढ़कर संवेदनशील मानव। वे उन दुर्लभ गुणोंके आगार थे जो इस युगमें खो-से गये हैं। जिस कामको वे हाथमें लेते थे, उसमें डूब जाते थे; जिसके सम्पर्कमें आते थे, उसके हो जाते थे। उन्होंने देश-सेवाके लिए सरसे कफन बाँधा। स्वास्थ्य धोखा न देता तो वे आदर्श किसान बनते। प्रचार और प्रदर्शनके वे शत्रु थे। 'कृतम् मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहत'—मेरे दाहिने हाथमें कर्म और बायेंमें जय है, इस मन्त्रके वे उपासक थे।

उनका वह छा जानेवाला अदम्य व्यक्तित्व, सुदृढ़ शरीर, आत्मीयतासे ओत-प्रोत मुसकराते नयन, स्नेहसे छलछलाता अनासक्त हृदय, सदा कर्मरत शान्त मस्तिष्क, दूसरोंकी दुर्बलताओंको समझनेवाली दृष्टि और अनौप-चारिक व्यवहार, वह सब आज कहानी बन गयी है। उनकी पत्नी और उनके बच्चे ही नहीं, उनके मित्रोंका एक विशाल परिवार उनके अभाव-

का अनुभव कर रहा है। आखिर इतनी छोटी आयुमें मौत किसीको क्यों ले जाती है? क्या इसीलिए कि इन्सान दर्दको पहचान सके? कितनी भयंकर कीमत है इस पहचानकी।

फरवरी १९५५

: २२ :

जगन्नाथ व्यास

पूर्वी-पंजाबके एक छोटे-से नगरमें दिनके किसी भी समय चिल-चिलाती धूप हो या कड़कड़ाती सर्दी, सोडेकी बोतलोंसे भरे हुए हाथके ठेलेको ठेलते हुए पं० जगन्नाथ व्यासको आप अक्सर देख सकते हैं। लम्बा शरीर, बाँकी चाल, माताके प्रसादसे मण्डित मुख, किंचित् साँवला रंग, हँसती हुई आँखें, विदूषककी-सी मुद्रा और होटोंपर रहनेवाली एक विचित्र मुसकान, इतनेपर भी कोई उन्हें न पहचान पाये तो टूटे जूतों, ढीलीढाली पेबन्दोंवाली धोती और विना बटनके खुले कफ और खुले गलेवाली नीली कमीजके कारण तो वह पहचाने ही जा सकेंगे। मिलने-पर जब वह दोनों हाथ जोड़कर अपनी विचित्र मुसकानको और भी गाढ़ी करके नमस्कार करते हैं तो उनकी गर्दन एक ओर झुक जाती है और पान खानेसे लाल हुए तिरछे बाँके दाँत बाहर दिखाई देने लगते हैं।

उनका लोकप्रिय नाम जगना तिवाड़ी है। सुना है उन्हें क्रोध आता है, बहुत आता है, जिससे लड़ते हैं, जी खोलकर लड़ते हैं। पर ऐसा अधिकतर सुना है, देखा तो उन्हें सदा मुसकराते ही हैं। वह मुसकराएँ न तो कोई उन्हें पहचाने कैसे? सड़कपर हों या नहरके पुलकी मुँडेरवाली पानकी दुकानपर, नाटकके रंगमंचपर हों या किसी राजनैतिक सभामें, उनकी मुसकान सदा एक अर्थ रखती है, मनोरंजन। जी हाँ, विशुद्ध जन-मनोरंजन।

वह जातिके डकौत हैं, जिन्हें महाब्राह्मण भी कहते हैं। शनिवारको

तेल और पैसा, ग्रहणपर छायादान तथा मरनेपर वस्त्रदान लेना इस जातिका पेशा है, पर कोई उनसे कह तो देखे, गर्वसे टेढ़ी गर्दनको और टेढ़ी करके वह उत्तर देंगे, 'रायसाहब ! पसीनेकी कमाई खाता हूँ। आपको मालूम होना चाहिए, मैं उदीच्य ब्राह्मण हूँ। आर्यसमाजके बानी स्वामी दयानन्द सरस्वती उसी जातिके थे।"

तब उनकी मुखमुद्रा देखते बनती है। उनके शरीरका रोआँ-रोआँ मानो पुकार उठता है, "मैं महान् हूँ ! मैं महान् हूँ ! जन्मसे न सही मैं कर्मसे महान् हूँ।" इस महत्तापर मुहर लगानेके लिए उन्होंने उस नगरमें एक 'उदीच्य ब्राह्मण सभा' की भी स्थापना भी की।

लेकिन इस सभाके बावजूद उनकी महत्तामें सन्देह करनेका कोई कारण मुझे नहीं दिखाई दिया। किसी जमानेमें अर्थात् सिनेमा युगसे पूर्व, वह नगरके 'कृष्णा ड्रैमेटिक क्लब'के आजीवन सदस्य थे। विदूषकका पार्ट उनके लिए सुरक्षित था। यह पूछनेपर कि वह विदूषकका ही पार्ट क्यों करते हैं, वह जवाब देते, "राय साहब ! जनताका सेवक जनताको हँसाए न तो क्या करे ? हँसनेसे सेहत बनती है।" एक बार वह रूठ गये, पार्ट नहीं किया, नहीं किया। ड्रामेका रंग फीका पड़ गया, जैसे उसमें जान नहीं थी। लोगोंने उनकी बड़ी खुशामदें कीं पर वह नहीं माने; दो वर्षतक रूठे रहे। और जब माने तो बिना खुशामद चले आये। मुझे याद है, उस दिन थिएटरमें तिलभर भी जगह नहीं बची थी। उनकी अल्हड़ता, बालोचित मस्ती, बाँकी मुसकान और भोली अदा; लोग देखते और लोट-पोट हो जाते।

लेकिन वह हँसानेकी कलामें पारंगत हों, सो नहीं। पान लगानेकी कलाके साथ-साथ पकवान बनानेकी कलामें भी वह निपुण हैं। भरी जवानीमें एक पुत्र और दो पुत्रियाँ छोड़कर जब उनकी पत्नी चल बसी तब बापके साथ माँका पार्ट भी उन्हें ही अदा करना पड़ा। उनकी जातिमें पत्नी जरा कठिनतासे मिल पाती हैं। इसीलिए चक्की, चौका और चूल्हा सब कुछ उन्हें ही सँभालना पड़ा। वह भार उन्होंने सम्हाला और

तेल और पैसा, ग्रहणपर छायादान तथा मरनेपर वस्त्रदान लेना इस जातिका पेशा है, पर कोई उनसे कह तो देखे, गर्वसे टेढ़ी गर्दनको और टेढ़ी करके वह उत्तर देंगे, 'रायसाहब ! पसीनेकी कमाई खाता हूँ। आपको मालूम होना चाहिए, मैं उदीच्य ब्राह्मण हूँ। आर्यसमाजके बानी स्वामी दयानन्द सरस्वती उसी जातिके थे।"

तब उनकी मुखमुद्रा देखते बनती है। उनके शरीरका रोआँ-रोआँ मानो पुकार उठता है, "मैं महान् हूँ ! मैं महान् हूँ ! जन्मसे न सही मैं कर्मसे महान् हूँ।" इस महत्तापर मुहर लगानेके लिए उन्होंने उस नगरमें एक 'उदीच्य ब्राह्मण सभा' की भी स्थापना भी की।

लेकिन इस सभाके बावजूद उनकी महत्तामें सन्देह करनेका कोई कारण मुझे नहीं दिखाई दिया। किसी जमानेमें अर्थात् सिनेमा-युगसे पूर्व, वह नगरके 'कृष्णा ड्रैमेटिक क्लब'के आजीवन सदस्य थे। विदूषकका पार्ट उनके लिए सुरक्षित था। यह पूछनेपर कि वह विदूषकका ही पार्ट क्यों करते हैं, वह जवाब देते, "राय साहब ! जनताका सेवक जनताको हँसाए न तो क्या करे ? हँसनेसे सेहत बनती है।" एक बार वह रूठ गये, पार्ट नहीं किया, नहीं किया। ड्रामेका रंग फीका पड़ गया, जैसे उसमें जान नहीं थी। लोगोंने उनकी बड़ी खुशामदें कीं पर वह नहीं माने; दो वर्षतक रूठे रहे। और जब माने तो बिना खुशामद चले आये। मुझे याद है, उस दिन थिएटरमें तिलभर भी जगह नहीं बची थी। उनकी अल्हड़ता, बालोचित मस्ती, बाँकी मुसकान और भोली अदा; लोग देखते और लोट-पोट हो जाते।

लेकिन वह हँसानेकी कलामें पारंगत हों, सो नहीं। पान लगानेकी कलाके साथ-साथ पकवान बनानेकी कलामें भी वह निपुण हैं। भरी जवानीमें एक पुत्र और दो पुत्रियाँ छोड़कर जब उनकी पत्नी चल बसी तब बापके साथ माँका पार्ट भी उन्हें ही अदा करना पड़ा। उनकी जातिमें पत्नी जरा कठिनतासे मिल पाती हैं। इसीलिए चक्की, चौका और चूल्हा सब कुछ उन्हें ही सँभालना पड़ा। वह भार उन्होंने सम्हाला और

शानसे सम्हाला। एक बार दिवालीके दिन क्या देखता हूँ कि वह थालमें ढेर सारे गुलाबजामुन भरे मस्तीसे चले आ रहे हैं। पूछा, "कहाँसे ला रहे हो ?"

हँसकर बोले, "अभी बनाकर लाया हूँ। बहुत बढ़िया है, खाओ।"

"मैं···?"

"रायसाहब। आपके ही लिए हैं।"

"लेकिन···।

"अरे प्रभास्कर जी! (प्रभाकर कमल मेरे एक मलयाली मित्र थे। उन्हें व्यासजी प्रभास्कर कहते थे।) खाओ, खाओ और हँसो। हँसो, स्वराज्य मिलेगा।"

वह बहुत दिनतक मेरे मकानके सामने रहे और अनेक बार उन्होंने इसी तरह हँसाया और खिलाया। यह एक विचित्र संयोग था। मैं सरकारी नौकर था और वह विद्रोही थे। जी हाँ, वह विद्रोही थे, पक्के विद्रोही थे। सन् बीसकी गाँधीकी आँधीमें उनके पैर नहीं टिक पाये थे और वह ऐसे देशभक्त बने कि चपरासी वह, ढिढौंरची वह, वक्ता वह, श्रोता वह। सन् तीसके तूफ़ानी दिनोंमें मैंने उन्हें नाना रूपोंमें देखा था। उन दिनों कांग्रेस अंग्रेज-सरकारकी आँखोंमें खार बनकर खटक रही थी, पर व्यासजी थे कि उस खारपर फूल बनकर झूम रहे थे। ऐसे दिन थे कि जब कभी कोई नेता उस नगरमें आता या कोई और सभा होती तो एलान करनेवाला एक न मिलता। तब नेता लोग व्यासजीकी ओर देखते और व्यासजी कुछ क्षणोंके मान-मनौवलके बाद घण्टा उठाकर गली-गली चिल्लाते फिरते, "साहबो! आज शामको छः बजे नगर कांग्रेसकी ओरसे कटरा रामलीलामें एक आम जलसा होगा। उसमें देशके बड़े नेता···लेक्चर देंगे। आप सबसे दरख्वास्त है कि आप ठीक वक्तपर पहुँचकर मुल्ककी खिदमत करें।"

और फिर जैसे ही समय होता वह कटरा रामलीलामें तख्तपर चादर बिछाते दिखाई देते। फिर नीचेकी फर्श ठीक करते। कभी-कभी तो वह

दरी भी सिरपर उठाकर लाते। और जब इतना परिश्रम करनेपर भी जनताके दर्शन न होते तब वह अपनी मुसकानको कमानपर चढ़ाते। मंच-पर जाकर स्वतन्त्रताकी महत्तापर इधर-उधरसे सुनकर रटा हुआ भाषण सुनाते। बीच-बीचमें रंगमंचका अभिनय करके अपने इने-गिने श्रोताओं-को हँसाते और कांग्रेसको जिन्दा रखते। ऊपरसे ये सभाएँ असफल जान पड़तीं पर अन्दर-ही-अन्दर कांग्रेसका नाम हँसीके साथ लोगोंके दिलोंमें घुसता चला जाता।

नमक-सत्याग्रहके समय लाठीचार्ज होनेपर जब जनता भाग चली थी तब उस पवित्र नमककी रक्षा उन्होंने की थी। उस समय उनकी चंचलता और मस्ती देखते बनती थी और जब झण्डा लहरानेपर पाबन्दी लगी हुई थी तब साहसके साथ आगे बढ़कर न जाने उन्होंने कितनी बार झण्डा लहराया था। उनके जेल-जीवनकी कथा उनके मुखसे सुननेकी चीज है।

और उन दिनों जब साम्प्रदायिकताने राष्ट्रीयताको कुचल दिया था; हिन्दू-मुसलमान धर्मके नामपर एक-दूसरेका रक्त बहा रहे थे, तब भी वह अपनी पुरानी मस्तीसे कांग्रेसका झण्डा ऊँचा किये रहे। सरकारके डण्डेसे डरकर, धर्मान्धकी छुरीके नीचे या लोगोंकी गालियोंसे घबराकर उन्होंने अपनी पकड़ कभी ढीली नहीं की। उन्होंने कभी शोहरत नहीं की। अखबारमें उनका नाम केवल एक बार ही छप सका। वह तबकी बात है जब एक दिन अचानक उनके शहरमें साम्प्रदायिक दंगा भड़क उठा था और उसमें उनका एकमात्र पुत्र गोलीका शिकार हो गया था। वह स्कूलसे लौटते हुए एक जगह धर्मान्धोंकी भीड़में तमाशा देखने लगा था और तब सामनेके मकानके ऊपरसे आकर एक गोलीने उसे सदाके लिए सुला दिया था।

मुझे याद है कि जब मैं उनके घर समवेदना प्रकट करने गया तो कुल पाँच-छः आदमी वहाँ बैठे हुए थे। इसके विपरीत उसी दंगेमें मारे जानेवाले एक रायबहादुरके घर आदमियोंके ठठ-के-ठठ लगे हुए थे। वह रो रहे थे। और लालटेनके धुँधले प्रकाशमें उनकी हूक उनकी छायाके

श्रद्धाकी टेक थी, तर्ककी नहीं। तर्ककी टेक कभी भी बदली जा सकती है। श्रद्धाकी टेक टूट जाती है, बदली नहीं जाती।

पर एक दिन उनकी श्रद्धा भी टूट गई। कुछ दिन पश्चात् कारणवश मुझे वह नगर छोड़ना पड़ा और जब बहुत वर्षोंके बाद गत वर्ष में उनसे मिला तो पुरानी परिस्थितियाँ पलट चुकी थीं। भारत रक्त-यज्ञके बाद स्वतन्त्र हो चुका था। मैं मान लूँ कि मुझे अब उनकी कोई विशेष याद नहीं रही थी; पर एक शामको, जब मैं अपने पुराने नगरको पहचाननेकी चेष्टा करता हुआ उसकी सड़कोंपर घूम रहा था तब सहसा किसीने मेरा नाम लेकर पुकारा। हृदय कुछ काँपा, दृष्टि उठी। स्वरकी दिशामें देखा, एक दूकानपर बैठे पण्डित जगन्नाथ व्यास शतरंज खेल रहे हैं।

मैं यन्त्रवत् आगे बढ़ा। वह भी उठे। उनकी आँखोंपर चश्मा लगा हुआ था, यही परिवर्तन मैं दूरसे देख सका। शेष वही मधुर मुसकान, वही बाँकी गर्दन, वही मस्ती, ढीलीढाली धोती, खुले कफ और खुले गले-वाली कमीज। गद्‌गद होकर बोले, "विष्णुजी! कब आये भइया!"

"आज ही।"

"तुम तो दुबले हो रहे हो। ऊहूँ...दुबले हो गये, भइया। जान पड़ता है हँसते नहीं। क्या करते हो?"

"बस लिखता हूँ।"

"ओहो, लिखते हो", उन्होंने चश्मेके भीतरसे झाँकते हुए चकित स्वरमें कहा, "बड़े आदमी बन गये हो। तब क्यों हँसोगे?"

और मैं कुछ जवाब दूँ इससे पूर्व मेरे और पास आकर वह बोले, "और भइया तुमने सुना, अब मैं सोशलिस्ट हो गया हूँ।"

मैंने किसी तरह सम्हलकर कहा, "ओहो, आप कामरेड बन गये हैं।"

बोले, "कामरेड क्या, भइया। उनमें जोश है। काम करते हैं।"

"और कांग्रेसवाले?"

"वे अब बड़े आदमी हैं।"

कहते-कहते वह गम्भीर हो गये। ऐसे हँसे जैसे रो उठेंगे। उनके दर्दने मेरे दिलको छुआ। मैंने तब उन्हें ध्यानसे देखा—उनका शरीर जर्जर हो चला है। वह अकेले हैं। उन्हें कोई सहारा देनेवाला नहीं, उनका कोई सहारा लेनेवाला नहीं। सिनेमाने थिएटरका गला घोट दिया है। उनके हँसाए अब कोई नहीं हँसता। बुद्धिवादके युगमें केवल तन खपानेवालोंका मूल्य कोई गाँधी ही आँक सकता है। और तो इस 'अज्ञानी'की उपेक्षा करके आगे बढ़ जाते हैं। डोंडी पीटने योग्य भी नहीं समझते।

यद्यपि वह अब बीते युगकी यादगार हैं, पृथ्वीके गर्भमें पड़े हुए कंकालमात्र हैं; पर तो भी क्या कोई माईका लाल इस बातको अस्वीकार कर सकता है कि इन कंकालोंने ही अपने जीवन-रक्तसे स्वतंत्रताके इस वृक्षको सींचा है, जिसके फल हमें पन्द्रह अगस्तको प्राप्त हुए थे?

गाँधीवाद और समाजवादके तत्त्वज्ञानसे अनभिज्ञ सोशलिस्ट जगन्नाथ व्यास ऐसे ही कंकाल हैं।

अगस्त १९५२

: २३ :

विष्णु प्रभाकर माचवे

क्या आप 'विष्णु प्रभाकर माचवे'से मिलना पसन्द करेंगे। जी हाँ, वही जो हिन्दीके लेखक हैं। मातृभाषा जिनकी मराठी है''क्या, आप प्रतिवाद कर रहे हैं कि उनकी मातृभाषा मराठी नहीं, हिन्दी है। वह उत्तरप्रदेशके ठेठ उस भागमें पैदा हुए है जहाँकी भाषा हिन्दीकी जननी है। आप भी ठीक कह रहे हैं। उनकी मातृभाषा मराठी भी है और हिन्दी भी। उनका जन्म उत्तरप्रदेशके जिला मुजफ्फरनगरके अन्तर्गत मीरापुर गाँवमें भी हुआ है, और मध्यभारतके ऐतिहासिक नगर ग्वालियरके एक गाँव 'पाटोर'में भी। उनकी जन्म-तिथि २१–६–१२ भी है और २६ दिसम्बर १९१७ भी। वह अग्रवाल भी हैं और ब्राह्मण भी। वह अपने पिताकी दूसरी सन्तान भी हैं और पन्द्रहवीं भी। उनके पिता व्यापारी भी हैं और तार बाबू भी थे। जी हाँ, जिन्दा भी हैं और मर भी गये''।

अरे, आप इस तरह चकित-विस्मित मेरी ओर क्यों देख रहे हैं? विश्वास रखिए, मैं ठीक कह रहा हूँ। बिल्कुल ठीक, सोलह आने पाव-रत्ती ठीक। यह 'विष्णु प्रभाकर माचवे' सचमुच विचित्र प्राणी हैं। इतने विचित्र कि उनकी तुलना न तो पुराण-प्रसिद्ध चतुर्मुखी ब्रह्मा और त्रिमुखी दत्तात्रेयसे हो सकती है और न महाकाव्य प्रसिद्ध दशानन रावण या त्रिशिरासे। पञ्चतन्त्रके भारुण्ड पक्षीसे भी, जिसके एक पेट और दो सिर होते थे, उनकी कोई समानता नहीं है। और-तो-और वह आजके युगके 'स्वामी-युगल'की श्रेणीमें भी नहीं आते। शरीर एक साथ दुबला-पतला

और स्थूल-तुन्दिल, वजन एक साथ १२० और १८६ पौण्ड। एक साथ इलाजके पहले और इलाजके बाद। वह एक साथ पंजाबमें क्लर्की और उज्जैनमें प्रोफेसरी करते रहे। अब एक साथ स्वतन्त्र लेखक और साहित्य अकादमीके उपमन्त्री हैं। एक साथ दिल्ली, प्रयाग और नागपुरमें रहे। एक साथ साधारण बुद्धिवाले और 'प्रतिभा-पुंज', एक क्षण केवल आत्म-निष्ठ, दूसरे क्षण आत्मनिष्ठ और व्यावहारिक दोनों। एक साथ कछुए और खरगोशकी गतिके उपासक। एक साथ 'मूड'के प्रेमी और निन्दक। क्या कहें जनाब! एक ओर तो वह केवल कहानी, नाटक और उपन्यास लेखकके रूपमें प्रसिद्ध हैं दूसरी ओर कवि, आलोचक, कथाकार, नाटक-कार, उपन्यासकार, इतिहासज्ञ, हास्य-व्यंग्य-लेखक, मूर्तिकार, चित्रकार, सभी कुछ हैं। यही नहीं उनकी शादी कनखलके गंगा-तट वासी एक वैश्य परिवारमें भी हुई और गाँधीजीके संरक्षणमें पोषिता सेवाग्रामकी एक महाराष्ट्र-बालासे भी...।

जी, क्या कहा? उनकी दो पत्नियाँ हैं।...जी नहीं, वह तो विशुद्ध एक पत्नीव्रतधारी हैं। कहीं किसीके सामने ऐसी बात न कह दीजिये। बेचारोंकी सरकारी नौकरीके लेने-देने पड़ जायँगे। जी...जी नहीं! उनकी पत्नीका देहान्त भी नहीं हुआ। ओफ! आप तो बौखला गये। अजी साहब, वह हम आप जैसे साधारण प्राणी होते तो आपको कष्ट ही क्यों देता। विज्ञानके इस युगमें जब अणु बमकी तो बात ही क्या है उद्जन बम भी पुराना पड़ गया है, वह वैज्ञानिकोंके लिए रहस्य बने हुए हैं। एक साथ गाँधीवादी, व्यक्तिवादी, बुद्धिवादी, साम्यवादी, प्रयोग-वादी, प्रगतिवादी और मानवतावादी सब कुछ हैं। यदि आप दूतावासों-की पार्टियोंमें जायँ तो वह एक साथ एक कोनेमें हीन भावसे ग्रस्त सिकुड़े-से खड़े दिखाई देंगे और दूसरेमें मुक्त मनसे सांस्कृतिक-सचिवसे वार्तालाप करते हुए। आप अविश्वाससे ऐसे आँखें मलेंगे जैसे कृष्णके एक साथ अनेक रूप देखकर नारदने मली थी पर कृष्णमें और उनमें बड़ा अन्तर है। कृष्ण मायावी भगवान् थे और विष्णु प्रभाकर माचवे विशुद्ध मानव

हैं। आज भूत-प्रेत, देवता-दानव, शैतान-फरिश्ते, जिन-परियाँ सब गायब हो गए पर यह 'विष्णु प्रभाकर माचवे' नामका अद्‌भुत प्राणी आज भी जिन्दा है। जिन्दा ही नहीं, जनाब! आप और हमारी तरह सहज भावसे सब काम करता है। बाजारोंमें घूमता-फिरता है पर न तो लोग उसे देखकर भीड़ लगाते हैं और न अखबारोंके सर्वव्यापी-सर्वशक्तिमान्-संवाददाता उसको लेकर समाचार-पत्रोंके कालम-पर-कालम रँगते हैं। किसी भैंसके दो सिरका कटड़ा हो जाय, किसी स्त्रीके एक साथ पाँच बच्चे हो जायँ या कोई सरकारी आदमी बहादुरीका काम कर दे तो उसका समाचार पहले पृष्ठपर बॉक्समें छापा जाता है पर बेचारे विष्णु प्रभाकर माचवेपर किसीने कभी दो लाइनेंतक नही लिखीं।

आप बहुत परेशान हो रहे हैं। सच है धैर्यकी भी एक सीमा होती है। खैर बहुत हो चुकी भूमिका, आइए अब आपको उनसे मिला ही दूँ। लेकिन हाँ, एक बात याद रखिये, पहले मैं आपको उनके दोनों रूपोंके अलग-अलग दर्शन कराऊँगा।

तो यह लीजिये उनका पहला रूप।...क्या कहा? इस चित्रके नीचे तो केवल 'विष्णु प्रभाकर' लिखा है। जी बात यह है कि 'विष्णु प्रभाकर माचवे' कुछ लम्बा नाम है। इसलिए वह कभी-कभी 'विष्णु प्रभाकर' ही लिखते हैं। इनका परिचय पढ़िये—दुबले-पतले, अति भावुक, छेड़ो मत नहीं तो रो दूँगा प्रवृत्तिवाले, संघर्षोंमें पनपे पर उनसे भागनेवाले, दृढ़, एकान्तप्रिय और स्नेही लेकिन घोर अहम्‌वादी, गाँधी टोपी लगाते हैं पर अपनेको गाँधीवादी नहीं मानते, खद्दर पहनते हैं और अहिंसामें विश्वास रखते हैं पर वादोंकी दुनियासे चमकते हैं। मानते हैं कि वह विशुद्ध मानवताके उपासक हैं पर हैं स्वप्नदर्शी! वह अपनेको कहानीकार मानते हैं, जनता रेडियो नाटक प्रणेता, आलोचक कुछ भी नहीं मानते। वैसे इन्होंने, उपन्यास भी लिखे हैं जो छपे भी हैं। और हाँ, सुना है कि स्केच भी लिख लेते हैं। उत्तरप्रदेशमें पैदा हुए, पर शिक्षा पाई पंजाबमें। पन्द्रह वर्ष सरकारी गउशालामें क्लर्की करते रहे पर शौक रहा कहानी

लिखनेका। कहनेको सरकारी नौकरीसे त्यागपत्र दे दिया है पर जीविका अर्जनके लिए सरकारी रेडियोका उपयोग करनेमें उन्हें कोई परहेज नहीं रहा। रेडियोमें प्रोड्यूसर भी रह चुके हैं···।

आप कुछ सोचने लगे! जी नहीं, अभी जरा रुकिए, पहले तसवीर-का दूसरा पहलू भी देख लीजिए।···यह, देखिए ···अरे, आप चौंकते क्यों हैं। यह भी 'विष्णु प्रभाकर माचवे'का चित्र है। नीचे 'प्रभाकर माचवे' लिखा है तो क्या हुआ। अभी तो बताया था कि पूरा नाम कुछ लम्बा है। सो उसका संक्षेप करके वह कभी 'विष्णु प्रभाकर' लिख देते हैं तो कभी 'प्रभाकर माचवे'। हाँ, हाँ अब परिचय पढ़िए, भारी डील-डौलके प्रतिभाशाली साहित्यिक। मातृभाषा मराठी होते हुए भी हिन्दीके अनन्य उपासक। अध्ययन गहन, दृष्टि सूक्ष्म, गति तीव्र। कवि, आलोचक, इतिहासज्ञ, नाटककार, कथाकार, उपन्यासकार, कोषकार, हास्य-व्यंग्यकार, चित्रकार, मूर्तिकार, गर्ज कि बेकारकी 'कार'के अतिरिक्त सर्व 'कार' सम्पन्न प्रतिभाके अनुपम आकार। हिन्दी-मराठी साहित्यिकोंके बीचमें एक कड़ी। प्रोफेसर रहे, रेडियोपर प्रोग्राम किये और अब अर्द्ध-सरकारी साहित्य अकादमीके सरकारी उपमन्त्री हैं। आपका विवाह भी गाँधीजी-की स्वीकृतिसे उन्हींके आश्रमकी एक महाराष्ट्र बालासे हुआ है। पर वैसे मार्क्ससे आपका अच्छा परिचय है।

अरे यह क्या? आप हँसने क्यों लगे। वाह, यह कैसा शिष्टाचार है। मैं बीसवीं सदीके एक अद्भुत प्रतिभाशाली प्राणीसे आपका परिचय करा रहा हूँ और आप हैं कि हँसे जा रहे हैं, हँसे जा रहे हैं। अरे साहब, रुकिए, मुझे अपनी कहानी पूरी कर लेने दीजिए···क्या! क्या कहा? मैंने आपको खूब बनाया। विष्णु प्रभाकर और प्रभाकर माचवे दो व्यक्ति हैं। उनका रूप-रंग अलग, उनकी मातृभाषा अलग, उनका स्वभाव, कार्यक्षेत्र सब अलग और मैंने बना डाला उन्हें एक···।

जी नहीं, मैं इस बातका घोर विरोध करता हूँ। मैंने कुछ नहीं किया। वे दो हो सकते हैं पर लोग उन्हें एक रूप मानते हैं और ठीक

हैं। आज भूत-प्रेत, देवता-दानव, शैतान-फरिश्ते, जिन-परियाँ सब गायब हो गए पर यह 'विष्णु प्रभाकर माचवे' नामका अद्‌भुत प्राणी आज भी जिन्दा है। जिन्दा ही नहीं, जनाब ! आप और हमारी तरह सहज भावसे सब काम करता है। बाजारोंमें घूमता-फिरता है पर न तो लोग उसे देखकर भीड़ लगाते हैं और न अखबारोंके सर्वव्यापी-सर्वशक्तिमान्-संवाददाता उसको लेकर समाचार-पत्रोंके कालम-पर-कालम रँगते हैं। किसी भैंसके दो सिरका कटड़ा हो जाय, किसी स्त्रीके एक साथ पाँच बच्चे हो जायँ या कोई सरकारी आदमी बहादुरीका काम कर दे तो उसका समाचार पहले पृष्ठपर बॉक्समें छापा जाता है पर बेचारे विष्णु प्रभाकर माचवेपर किसीने कभी दो लाइनेंतक नहीं लिखीं।

आप बहुत परेशान हो रहे हैं। सच है धैर्यकी भी एक सीमा होती है। खैर बहुत हो चुकी भूमिका, आइए अब आपको उनसे मिला ही दूँ। लेकिन हाँ, एक बात याद रखिये, पहले मैं आपको उनके दोनों रूपोंके अलग-अलग दर्शन कराऊँगा।

तो यह लीजिये उनका पहला रूप।...क्या कहा ? इस चित्रके नीचे तो केवल 'विष्णु प्रभाकर' लिखा है। जी बात यह है कि 'विष्णु प्रभाकर माचवे' कुछ लम्बा नाम है। इसलिए वह कभी-कभी 'विष्णु प्रभाकर' ही लिखते हैं। इनका परिचय पढ़िये—दुबले-पतले, अति भावुक, छेड़ो मत नहीं तो रो दूँगा प्रवृत्तिवाले, संघर्षोंमें पनपे पर उनसे भागनेवाले, दृढ़, एकान्तप्रिय और स्नेही लेकिन घोर अहम्‌वादी, गाँधी टोपी लगाते हैं पर अपनेको गाँधीवादी नहीं मानते, खद्दर पहनते हैं और अहिंसामें विश्वास रखते हैं पर वादोंकी दुनियासे चमकते हैं। मानते हैं कि वह विशुद्ध मानवताके उपासक हैं पर हैं स्वप्नदर्शी ! वह अपनेको कहानीकार मानते हैं, जनता रेडियो नाटक प्रणेता, आलोचक कुछ भी नहीं मानते। वैसे इन्होंने, उपन्यास भी लिखे हैं जो छपे भी हैं। और हाँ, सुना है कि स्केच भी लिख लेते हैं। उत्तरप्रदेशमें पैदा हुए, पर शिक्षा पाई पंजाबमें। पन्द्रह वर्ष सरकारी गउशालामें क्लर्की करते रहे पर शौक रहा कहानी

लिखनेका। कहनेको सरकारी नौकरीसे त्यागपत्र दे दिया है पर जीविका अर्जनके लिए सरकारी रेडियोका उपयोग करनेमें उन्हें कोई परहेज नहीं रहा। रेडियोमें प्रोड्यूसर भी रह चुके हैं···।

आप कुछ सोचने लगे! जी नहीं, अभी जरा रुकिए, पहले तसवीरका दूसरा पहलू भी देख लीजिए।···यह, देखिए···अरे, आप चौंकते क्यों हैं। यह भी 'विष्णु प्रभाकर माचवे'का चित्र है। नीचे 'प्रभाकर माचवे' लिखा है तो क्या हुआ। अभी तो बताया था कि पूरा नाम कुछ लम्बा है। सो उसका संक्षेप करके वह कभी 'विष्णु प्रभाकर' लिख देते हैं तो कभी 'प्रभाकर माचवे'। हाँ, हाँ अब परिचय पढ़िए, भारी डील-डौलके प्रतिभाशाली साहित्यिक। मातृभाषा मराठी होते हुए भी हिन्दीके अनन्य उपासक। अध्ययन गहन, दृष्टि सूक्ष्म, गति तीव्र। कवि, आलोचक, इतिहासज्ञ, नाटककार, कथाकार, उपन्यासकार, कोषकार, हास्य-व्यंग्यकार, चित्रकार, मूर्तिकार, गर्ज कि बेकारकी 'कार'के अतिरिक्त सर्व 'कार' सम्पन्न प्रतिभाके अनुपम आकार। हिन्दी-मराठी साहित्यिकोंके बीचमें एक कड़ी। प्रोफेसर रहे, रेडियोपर प्रोग्राम किये और अब अर्द्ध-सरकारी साहित्य अकादमीके सरकारी उपमन्त्री हैं। आपका विवाह भी गाँधीजीकी स्वीकृतिसे उन्हींके आश्रमकी एक महाराष्ट्र बालासे हुआ है। पर वैसे मार्क्ससे आपका अच्छा परिचय है।

अरे यह क्या? आप हँसने क्यों लगे। वाह, यह कैसा शिष्टाचार है। मैं बीसवीं सदीके एक अद्भुत प्रतिभाशाली प्राणीसे आपका परिचय करा रहा हूँ और आप हैं कि हँसे जा रहे हैं, हँसे जा रहे हैं। अरे साहब, रुकिए, मुझे अपनी कहानी पूरी कर लेने दीजिए···क्या! क्या कहा? मैंने आपको खूब बनाया। विष्णु प्रभाकर और प्रभाकर माचवे दो व्यक्ति हैं। उनका रूप-रंग अलग, उनकी मातृभाषा अलग, उनका स्वभाव, कार्यक्षेत्र सब अलग और मैंने बना डाला उन्हें एक···।

जी नहीं, मैं इस बातका घोर विरोध करता हूँ। मैंने कुछ नहीं किया। वे दो हो सकते हैं पर लोग उन्हें एक रूप मानते हैं और ठीक

हैं। आज भूत-प्रेत, देवता-दानव, शैतान-फरिश्ते, जिन-परियाँ सब गायब हो गए पर यह 'विष्णु प्रभाकर माचवे' नामका अद्‌भुत प्राणी आज भी जिन्दा है। जिन्दा ही नहीं, जनाब ! आप और हमारी तरह सहज भावसे सब काम करता है। बाजारोंमें घूमता-फिरता है पर न तो लोग उसे देखकर भीड़ लगाते हैं और न अखबारोंके सर्वज्ञानी-सर्वशक्तिमान्-संवाददाता उसको लेकर समाचार-पत्रोंके कालम-पर-कालम रँगते हैं। किसी भैंसके दो सिरका कटड़ा हो जाय, किसी स्त्रीके एक साथ पाँच बच्चे हो जायँ या कोई सरकारी आदमी बहादुरीका काम कर दे तो उसका समाचार पहले पृष्ठपर बॉक्समें छापा जाता है पर बेचारे विष्णु प्रभाकर माचवेपर किसीने कभी दो लाइनेंतक नहीं लिखीं।

आप बहुत परेशान हो रहे हैं। सच है धैर्यकी भी एक सीमा होती है। खैर बहुत हो चुकी भूमिका, आइए अब आपको उनसे मिला ही दूँ। लेकिन हाँ, एक बात याद रखिये, पहले मैं आपको उनके दोनों रूपोंके अलग-अलग दर्शन कराऊँगा।

तो यह लीजिये उनका पहला रूप।···क्या कहा ? इस चित्रके नीचे तो केवल 'विष्णु प्रभाकर' लिखा है। जी बात यह है कि 'विष्णु प्रभाकर माचवे' कुछ लम्बा नाम है। इसलिए वह कभी-कभी 'विष्णु प्रभाकर' ही लिखते हैं। इनका परिचय पढ़िये—दुबले-पतले, अति भावुक, छेड़ो मत नहीं तो रो दूँगा प्रवृत्तिवाले, संघर्षोंमें पनपे पर उनसे भागनेवाले, दृढ़, एकान्तप्रिय और स्नेही लेकिन घोर अहम्‌वादी, गाँधी टोपी लगाते हैं पर अपनेको गाँधीवादी नहीं मानते, खद्दर पहनते हैं और अहिंसामें विश्वास रखते हैं पर वादोंकी दुनियासे चमकते हैं। मानते हैं कि वह विशुद्ध मानवताके उपासक हैं पर हैं स्वप्नदर्शी ! वह अपनेको कहानीकार मानते हैं, जनता रेडियो नाटक प्रणेता, आलोचक कुछ भी नहीं मानते। वैसे इन्होंने, उपन्यास भी लिखे हैं जो छपे भी हैं। और हाँ, सुना है कि स्केच भी लिख लेते हैं। उत्तरप्रदेशमें पैदा हुए, पर शिक्षा पाई पंजाबमें। पन्द्रह वर्ष सरकारी गउशालामें क्लर्की करते रहे पर शौक रहा कहानी

लिखनेका। कहनेको सरकारी नौकरीसे त्यागपत्र दे दिया है पर जीविका अर्जनके लिए सरकारी रेडियोका उपयोग करनेमें उन्हें कोई परहेज नहीं रहा। रेडियोमें प्रोड्यूसर भी रह चुके हैं···।

आप कुछ सोचने लगे! जी नहीं, अभी जरा रुकिए, पहले तसवीर-का दूसरा पहलू भी देख लीजिए।···यह, देखिए···अरे, आप चौंकते क्यों हैं। यह भी 'विष्णु प्रभाकर माचवे'का चित्र है। नीचे 'प्रभाकर माचवे' लिखा है तो क्या हुआ। अभी तो बताया था कि पूरा नाम कुछ लम्बा है। सो उसका संक्षेप करके वह कभी 'विष्णु प्रभाकर' लिख देते हैं तो कभी 'प्रभाकर माचवे'। हाँ, हाँ अब परिचय पढ़िए, भारी डील-डौलके प्रतिभाशाली साहित्यिक। मातृभाषा मराठी होते हुए भी हिन्दीके अनन्य उपासक। अध्ययन गहन, दृष्टि सूक्ष्म, गति तीव्र। कवि, आलोचक, इतिहासज्ञ, नाटककार, कथाकार, उपन्यासकार, कोषकार, हास्य-व्यंग्यकार, चित्रकार, मूर्तिकार, गर्ज कि बेकारकी 'कार'के अतिरिक्त सर्व 'कार' सम्पन्न प्रतिभाके अनुपम आकार। हिन्दी-मराठी साहित्यिकोंके बीचमें एक कड़ी। प्रोफेसर रहे, रेडियोपर प्रोग्राम किये और अब अर्द्ध-सरकारी साहित्य अकादमीके सरकारी उपमन्त्री हैं। आपका विवाह भी गाँधीजी-की स्वीकृतिसे उन्हींके आश्रमकी एक महाराष्ट्र बालासे हुआ है। पर वैसे मार्क्ससे आपका अच्छा परिचय है।

अरे यह क्या? आप हँसने क्यों लगे। वाह, यह कैसा शिष्टाचार है। मैं बीसवीं सदीके एक अद्भुत प्रतिभाशाली प्राणीसे आपका परिचय करा रहा हूँ और आप हैं कि हँसे जा रहे हैं, हँसे जा रहे हैं। अरे साहब, रुकिए, मुझे अपनी कहानी पूरी कर लेने दीजिए···क्या! क्या कहा? मैंने आपको खूब बनाया। विष्णु प्रभाकर और प्रभाकर माचवे दो व्यक्ति हैं। उनका रूप-रंग अलग, उनकी मातृभाषा अलग, उनका स्वभाव, कार्यक्षेत्र सब अलग और मैंने बना डाला उन्हें एक···।

जी नहीं, मैं इस बातका घोर विरोध करता हूँ। मैंने कुछ नहीं किया। वे दो हो सकते हैं पर लोग उन्हें एक रूप मानते हैं और ठीक



: २४ :

अष्टावक्र

खजांचियोंकी विशाल अट्टालिकाओंको जानेवाले मार्गपर सौभाग्य-के चिरसंगी दुर्भाग्यकी तरह अनेक छोटी-छोटी अँधेरी और बदबूदार कोठरियाँ बनी हुई थीं। उन्होंमेंसे एकमें वह विचित्र व्यक्ति रहता था जिसे संस्कृत पढ़े-लिखे लोग अष्टावक्र कहा करते थे। उसके पैर कविकी नायिकाकी तरह बल खाते थे और उसका शरीर हिंडोलेकी तरह झूलता था। बोलनेमें वह साधारण आदमीके अनुपातसे तिगुना समय लेता था। वर्ण श्याम, नयन निरीह, शरीर एक शाश्वत खाजसे पूर्ण, मुख लम्बा और वक्र, वस्त्र कीटसे चिकटे, यह था उसका व्यक्तित्व और इसमें यदि कुछ कमी रह जाती थी तो उसे शीनके शडाके पूरा कर देते थे। इस आखिरी बातके लिए उसकी माँ अक्सर उसकी लानत मलामत किया करती थी।

उसकी माँ, जी हाँ, उसकी माँ थी और केवल माँ ही थी। सुना है कभी बाप भी थे पर अष्टावक्र उन्हें याद रख सके इतना परिचय होने-से पूर्व ही वे चल बसे। इन बातोंको आज तीस वर्ष बीत गये थे।

तबसे अकेली माँ ही उसका लालन-पालन करती आ रही है। खजांचियों-के वंशके नौनिहालोंकी रायमें उसकी माँका स्नेह इतना तीव्र था कि उसने अष्टावक्रकी बुद्धिकी बाढ़ मार दी थी और उसका भोलापन मूर्खता-की सीमारेखाको पार कर गया था।

यद्यपि असमयमें आ जानेवाले बुढ़ापेके कारण उसकी माँका शरीर प्रायः शिथिल हो चुका था, वह कुछ लँगड़ाकर भी चलती थी और निरन्तर अभावोंसे जूझते-जूझते चिडचिड़ापन भी उसका चिरसंगी बन चुका था, पर तो भी बेटेसे मुक्ति पानेकी बात उसके मनमें कभी नहीं उठी। वह विधवा थी इसलिए उसके वस्त्र काले किट्ट ही नहीं थे, फटे हुए भी थे जिनमें गरीबीने पैबन्द लगानेके लिए कोई स्थान नहीं छोड़ा था। उसके सिरके बाल सदा उलझे रहते थे। कभी-कभी खुजानेसे तंग आकर जब वह अष्टावक्रको जूँ दिखानेके लिए बैठाती तो अच्छा खासा मनोरंजक दृश्य बन जाता था। माँ उँगलीसे स्थान बताकर कहती, "यहाँ देख।"

अष्टावक्र दार्शनिककी-सी गम्भीरतासे इधर-उधर देखता और जवाब देता, "माँ! यहाँ तो बाल हैं, तोड़ दूँ।"

तब माँ माथा ठोक लेती और अष्टावक्र महाराज अपने वक्र मुखको और भी वक्र करके या तो कुएँकी जगतपर जा बैठते या फिर वहीं बैठकर आने-जाने वालोंको ताकने लगते। उस समय उसे देखकर जड़ भरत या मलूकदासकी याद आ जाना साधारण बात थी। वास्तवमें वह उसी अवतार-परम्पराका एक रत्न था। नींद खुलते ही वह पैरोंको नीचे लटकाकर और हाथोंको गोदीमें रखकर कुछ इस प्रकार बैठ जाता था, जिस प्रकार एक शिशु जननीके अंकमें लेट जाता है। माँ आकर उसे नित्यकर्मकी याद दिलाती। और जब कई बारके कहनेपर भी वह न उठता तो तंग आकर उसका मुँह ऐसे रगड़-रगड़कर धोती जैसे वह कोई अबोध शिशु हो। उसके बाद उसे कलेउ मिलता था जिसमें प्रायः रातकी बची हुई रोटी या खोमचेकी बची हुई चाट रहती थी।

जी हाँ! वह खोमचा लगाता था। अक्सर कचालूकी चाट, मूँग-की दालकी पकौड़ियाँ, दहीके आलू और पानीके बतासे इन सबको एक कालेसे लोहेके थालमें सजाकर वह बेचा करता था। उसके पास थाल रखनेके लिए एक मूढ़ी और मक्खी उड़ानेके लिए एक छड़ी भी रहती थी। मूढ़ीको वह बगलमें दबाता, थालको बायें हाथपर रखता और छड़ीको दाहिने हाथमें लेता, फिर गली-गली पुकारता फिरता, "चाट लो चाट, आलूकी चाट, पानीके बतासे।" यह बात नहीं कि कोई उसकी चाट नहीं खरीदता था। इसके विपरीत जब देखो तब उसके आस-पास एक भीड़ लगी रहती थी। बच्चे ही नहीं, किशोर और कुमारतक उसके रूप और वाणीके प्रेमी थे। ठीक समयपर वे हजार काम छोड़-कर दौड़े आते और उसके स्वरमें स्वर मिलाकर पुकार उठते, 'पकौड़ी बतासा ले, उल्लूकी चाट ले···।' फिर होठोंके भीतर-ही-भीतर हँसकर वे उसे एक पैसा देते और चार पत्ते चाटकर उठते। माँ उसे समझा-कर भेजती थी, "देख बेटा, पैसेके चार बतासे देना, चार पकौड़ी देना और चार चम्मच आलू देना।" ऐसी अवस्थामें यदि वह अपने ग्राहकों-को चार पत्ते दे देता था तो हमारे उदार कानूनकी दृष्टिमें वह कोई संगीन अपराध नहीं करता था। चारकी संख्या उसके स्मृति-पटलपरकी पत्थरकी रेखाकी तरह अंकित हो गई थी।

संध्याको उसके लौटनेके समय माँ उसकी बाट जोहती बैठी रहती। उसपर निगाह पड़ते ही वह ललककर उठती। पहले उसका थाल सँभालती फिर पानी भरे लोटेमेंसे पैसे निकालकर गिनती। उस समय माथा ठोक लेना उसका नित्यका धर्म बन गया था। लगभग डेढ़ रुपये-की बिक्रीका सामान ले जाकर वह सदा दस-बारह आनेके पैसे लेकर लौटता था। माँकी डाट-डपट या सिखावन उसके इस अटल नियमको कभी भंग नहीं कर सकी। वैसे कभी-कभी उसकी बुद्धि भी जाग्रत हो उठती थी। उदाहरणके लिए एक दिन उसने माँसे कहा, 'माँ! चाट तू बेचा कर। मुझे लड़के मारते हैं।'

सुनकर माँने अपने लालको कुछ इस प्रकार निहारा कि उसके शुष्क नयन सजल हो उठे। उसे कुछ याद आ गया। शैशव और यौवनका कुछ जो स्वयं तो मधुर होता है पर उसकी याद मोटरके धुएँकी तरह काली, कड़वी और दुर्गन्धपूर्ण होती है। यह बात नहीं कि माँको अपनी चाट बेचनेकी बात सुनकर दुःख हुआ था। उसीने तो बेटेको साथ ले जाकर चाट बेचना सिखाया था पर जब कोई सीख न सके तो क्या करे? क्यों ऐसे व्यक्ति पैदा होते हैं? क्यों वे जीते रहते हैं? क्यों भगवान् उनके अपमानको चुपचाप देखता रहता है···।

बेटेने कहा, "माँ! भूख लगी है।"

माँने नहीं सुना।

"माँ भूख···!" बेटेने आग्रहसे दोहराया।

माँ, चिनचिना पड़ी, "तो मुझे खा ले।"

बेटा कुछ समझा नहीं।

"खा क्यों नहीं लेता। पाप कट जायगा। नाशपीटेने नाकमें दम कर रखा है। न जीने देवे है न मरने देवे है। कबतक बैठी रहूँगी तेरी खातिर। अमर पट्टा किसने लिखाया है। कोई पानीकी बूँद भी नहीं डालेगा, पर तू समझे तब न···।"

वह बोलने लगी तो बोलती ही रही पर सुननेके लिए अष्टावक्र वहाँ बैठा नहीं रहा। वह आसन पाटी लेकर कुएँकी जगतपर जा लेटा। तब-तक लेटा रहा जबतक, बहुत रात बीत जानेपर, माँ खाना लेकर आई और बिना कुछ बोले चुपचाप टुकड़े तोड़-तोड़कर उसके मुँहमें न देने लगी। खाते हुए बेटेने एक बार केवल "माँ" इतना ही कहा पर वह बोलनेकी कठिनताके कारण इतना लम्बा हो गया कि माँको लगा मानो अखिल ब्रह्माण्ड उसे माँ कहकर पुकार रहा है।

बेटेको खिलाकर उसने स्वयं खाया। फिर वहीं उसके पास जगतपर

जा लेटी। सारी गरमी वे बिना ओढ़े, बिना बिछाये वहीं सोया करते थे। जाड़ोंमें कोठरीके किवाड़ बन्द करके, चूल्हेकी गरम राख और एक-दूसरेके शरीरसे वे काफी गरमी ले लेते थे। परन्तु फिर भी इस बार एक दिन अष्टावक्रको बुखार चढ़ ही आया। उस दिन खजांची-वंशके नौनिहालोंने देखा, अष्टावक्र चिथड़ोंमें लिपटा, चूल्हेके पास लेटा हुआ छटपटा रहा है और उसकी माँ वहीं कोठरीके आगे मूढ़ीपर लोहेके उस थालको रखे, कमचीसे मक्खी उड़ाती हुई चाट बेचनेको बैठी है। वे स्थितप्रज्ञ अनासक्त बन्धु जब आगे बढ़ गये तब अष्टावक्रने सदाकी तरह प्लुत स्वरमें पुकारा, "माँ!"

"क्या है ?" माँने कड़वे स्वरमें पूछा।

"पानी।"

वह उठी! बेटेको पानी पिलाया और लौट चली पर तभी अष्टावक्रने उसकी धोतीका छोर पकड़ लिया। वह क्रुद्ध हो उठी। बोली, "छोड़ मुझे। एक पैसेकी चाट नहीं बिकी। कलको क्या मुझे खायगा।"

बेटेने उसी स्वरमें कहा, "माँ···"

पैर ठिठक गये। वह मुड़ी और नीचे बैठकर उसका सिर दबाने लगी। बड़बड़ाने लगी, "तेरी दवा लानी है। डाक्टर पौने चार आने माँग लेगा। उतने पैसे तो आने दे।"

फिर क्षणोंने करवट ली। पैसे आये, दवा आयी, अष्टावक्रका ज्वर जाता रहा। परन्तु उसके कुछ दिन बाद जब उसकी माँको ज्वर चढ़ आया तो वह संकटमें पड़ गया।

लेटे-लेटे माँने आज्ञा दी, "बेसन उठा ला।"

"यह···।"

"नहीं रे, यह तो राख है। वह उधर···।"

वह बेसन ले आया तो माँने लेटे-लेटे उसे पानीमें घोला। उसमें

आलू डाले। इतनेपर वह बुरी तरह हाँफ उठी। धुएँने तन-मनको और भी कड़वा कर दिया। उधर तेल अलग छटपटा रहा था। किसी तरह पकौड़ी बनानेकी रीति बेटेको समझाकर बोली, "ले अब धीरे-धीरे तेलमें छोड़ता जा। धीरेसे छोड़ना नहीं तो जल जावेगा।"

अष्टावक्रने धीरेसे पर पैर जलनेके भयसे कुछ ऊँचेसे जो मुट्ठीभर आलू बेसन कड़ाहीमें छोड़े तो तेल सीधा छातीपर आया। तब "हाय माँ" कह-कर वह वहीं लुढ़क गया।

"क्या हुआ''क्या हुआ", कहती हुई माँ उठ बैठी। फिर तो उसका रोग न जाने कहाँ चला गया। सीधी डाक्टरके पास पहुँची। सौभाग्यसे तेल उछटता हुआ पड़ा था। इसलिए कुछ देर बाद अष्टावक्र उसकी जलनको सह गया और तबतक उसी तीव्र ज्वरमें माँने उसका थाल तैयार कर दिया। लेकिन जब वह लौटा तो माँमें इतनी हिम्मत नहीं थी कि वह उठकर उसका थाल ले लेती।

अष्टावक्रको यह परिवर्तन अच्छा नहीं लगा। थाल रखकर वह थोड़ी देर विमूढ़-सा बैठा रहा। फिर माँके पास आया। उसका बदन देखा। हाथ जैसे तवेसे छू गया हो, पर इस स्पर्शने माँकी चेतनाको बल दिया। उसने आँख खोलकर बेटेको निहारा और यन्त्रवत् हाथ फैला दिये। मुँहसे निकला, 'पैसे।'

अष्टावक्रने लोटेसे निकालकर ठण्डे-ठण्डे पैसे माँके जलते हुए हाथपर रख दिये और चिरपरिचित स्वरमें पुकारा, 'माँ''।'

माँने हिम्मत की, पूछा, "भूख लगी है।"

बेटेने दो क्षण रुककर उत्तर दिया, "माँ भूख''।"

"खा ले।" इतना ही माँ बोल सकी।

पर माँ न दे तो बेटा खाय कैसे? वह इतनी थकी हुई थी कि दवाकी बात भी न कह सकी। बस पैसोंको मुट्ठीमें दबाये संज्ञाहीन-सी पड़ी रही। अष्टावक्र बैठ सका तबतक बैठा रहा। फिर वहीं लेट गया। आज माँके

और उसका वक्र मुख किसी अज्ञात गम्भीरतासे और भी वक्र हो उठा है। इससे पूर्व वह उससे कुछ पूछे, बालकोंके एक दलने उसे देख लिया। वे हर्षसे चिल्ला उठे, 'बतासा ले। उल्लूकी चाट ले।'

पर जब उन्हें कोई सन्तोषजनक उत्तर नहीं मिला तो उनका हर्ष मुरझाने लगा। एक बालकने आगे बढ़कर पूछा, "तुम अब चाट नहीं बेचोगे।"

दूसरी बालिका अत्यन्त गम्भीर हुई, "इसकी माँ मर गई है।"

तीसरा लड़का शरारती था, चिल्लाया, "पागल है।"

अबतक बूढा कुलफीवाला पास आ गया था। बालक भाग गये। उसने अष्टावक्रसे पूछा, "क्यों भाग आए ?"

अष्टावक्रने एक क्षण मानो कुछ सोचा फिर प्लुत-स्वरमें कहा, 'माँ···!'

"माँ नहीं आयेगी, पगले।"

"माँ कहाँ गई ?"

"मर गई।"

तब अष्टावक्रने उस बूढ़े कुलफीवाले किराएदारको ऐसी विचित्र दृष्टिसे देखा मानो कहता हो तुम क्या कहते हो जी। मर गई है तो इसका यह मतलब नहीं है कि वह लौटेगी ही नहीं। उसकी इस चुनौतीको अस्वीकार करनेमें असमर्थ बूढ़े कुलफीवालेने गरदन मोड़ ली। मन कुछ गीला-गीला हो आया। सुना अष्टावक्र कह रहा था, "माँ आयगी। चाट बनायगी।"

उस रात वहीं नीलाम्बरके नीचे उस जगतपर सोते-सोते कई बार बड़बड़ाया, "माँ···भूख···।"

सबेरे बड़े खजांचीने एक बार फिर दया करके उसे अपने बागमें भेज दिया। पशुओंकी बैरकके पास काफी खुली जगह पड़ी थी पर उसे वह अच्छी नहीं लगी। खजांचिन माँके कपड़े भी उसने अस्वीकार कर दिये। रोटी देखकर उसे माँकी याद आ गई। बोला, 'माँ चाट बनायेगी। मैं बेचूँगा, फिर खाऊँगा।'

जाना उसके पेटमें तीव्र दर्द है। यहाँतक कि देखते-देखते उसे दस्त शुरू हो गये। अब तो कुल्फीवाला घबरा उठा। दौड़ा हुआ खजांचीके पास पहुँचा। वे पहले तो चिनचिनाये फिर अस्पतालको फोन किया। कुछ देर बाद गाड़ी आई और अष्टावक्रको लादकर ले गई।

× × ×

उसके दो घण्टे बाद कुल्फीवालेने फिर आइसोलेशन वार्डमें उसे दूरसे देखा। वह अकेला था, उसकी कराहट बढ़ती जा रही थी। प्राण खिंच रहे थे। वह लगभग मूर्च्छित था। कभी-कभी उसकी जीभ होटोंसे सम्पर्क स्थापित करनेकी चेष्टा करती थी। शायद वह प्यासा था।

डाक्टर आया, देखकर बोला, 'बस अब समाप्त होनेवाला है।'

नर्सने कुल्फीवालेसे पूछा, 'तुम्हारा मरीज है?'

कुल्फीवालेने गरदन हिलाकर जवाब दिया, 'जो नहीं। इसके कोई नहीं है।'

उसी क्षण अष्टावक्रकी बुद्धि जैसे जाग्रत हुई हो। धीमे पर गम्भीर स्वरमें पुकारा, 'माँ···।'

दोनों एक साथ उसके पास लपके। कुल्फीवालेने समझा, शायद संज्ञा लौट रही है पर नर्स जानती थी, वह मृत्युकी चेतावनी है।

अष्टावक्रने वाक्य पूरा किया, 'माँ आ रहा हूँ···अब नहीं खाऊँगा··· नहीं, अब नहीं···।'

और फिर उसकी चेतना मौन हो गई, सदाके लिए मौन।

नर्सने शीघ्रतासे उसका मुँह ढककर यन्त्रवत् भंगीको पुकारा, 'जमादार! स्ट्रेचर लाओ।'

जमादारने दूरसे सधा हुआ जवाब दिया, 'अभी लाया मिस साहब।'

लौटते समय कुलफीवाला परम शान्त था। यद्यपि उसके मनमें करुणाका उद्रेक हुआ था तो भी उसने ईश्वरको धन्यवाद दिया जिसने अष्टावक्रको अपने पास बुलाकर उन दोनोंको सुखकी नींद सोनेका अवसर दिया।

